विषय-सूची

Printed by—KRISHNA GOPAL KEDIA at The BANIK PRESS,
1, Sircar Lane, Calcutta.

निवेदन

प्रिय वाचकवृन्द! जीवोंके उद्धार-निमित्त महात्मा तथा पण्डितोंने संस्कृत एवं हिन्दीके अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, मुमुक्षु पुरुषोंके लिये तो वेही पर्याप्त हैं; तथा यह भी सभी जानते हैं कि परमेश्वरकी असीम महिमाका वर्णन करनेमें कोई पार नहीं पा सकता। तोभी वर्णन किये विना न तो कोई रहा है, न कोई है। प्रकृति भगवतीसे प्रेरित हुए कुछ-न कुछ कहना ही पड़ता है। इसी विषयपर गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है,

चौपाई—"सब जानत प्रभु प्रभुता सोई।
तदपि कहे बिनु रहा न कोई" ॥

इसी नियमके अनुसार ग्रन्थ लिखनेमें मेरी भी प्रवृत्ति समझनी चाहिये। यह पद्यात्मक ग्रन्थ अपना पाण्डित्य या काव्य-कुशलता दिखलानेके लिये नहीं है; किन्तु पद्य रूपसे इस ग्रान्थिक विषयके प्रचारार्थ है; क्योंकि आजकलके प्रचलित पद्योंमें जनताकी विशेष रुचि रहती है।

प्रिय सज्जनो! विदित हो कि प्रान्त बलिया, ग्राम भुलापुर निवासी पण्डित गयाप्रसादजी मिश्रने जिस प्रकार पूर्व समय

'ज्ञानामृत', 'आत्म प्रकाश' इत्यादि मेरी लिखी हुई पुस्तकें छपा-कर मुमुक्षुजनोंके कल्याणार्थ प्रकाशित की थीं उसी प्रकार इस "प्रेम-वैराग्यादि-वाटिका" नामक पुस्तकको भी छपानेकी स्वेच्छा सहर्ष प्रकट की है। मिश्रजीका यह कार्य, विक्रय द्वारा द्रव्योपार्जनरूपी स्वार्थ-साधनके लिये नहीं होता है; किन्तु भक्ति, वैराग्य, ज्ञानादिके प्रचार-द्वारा मुमुक्षुओंकी आध्यात्मिक उन्नति रूपी परमार्थके लिये है। आप धार्मिक पत्र तथा पुस्तकें सर्वदा मँगाया करते हैं; और श्रद्धालु व्यक्तियोंको अवलोकनार्थ दिया करते हैं। आपके धार्मिक व्यवहार एवं निश्छल स्वभावपर मैं अत्यन्त प्रसन्न होकर कोटिशः धन्यवाद देता हूं तथा हृदयसे चाहता हूं कि परमेश्वर हरेक प्राणीको ऐसी ही सुबुद्धि दें।

इस पुस्तकावलोकनसे प्रेमी पाठकोंके हृदयमें कुछ भी विश्राम तथा आनन्द मिला, तो मैं अपनेको भाग्यवान् एवं कृत-कृत्य समझूंगा। विद्या तथा बुद्धिहीन होनेके कारण यह लेखक त्रुटियोंके लिये क्षमार्थी है। शुभम्।

भवतां भद्रदर्शी—

ब्रह्मर्षि—रामजन्मजी ब्रह्मचारी।

प्रेम-वैराग्यांद वाटिका

श्री १०८ ब्रह्मर्षि रामजन्मजी ब्रह्मचारी

॥ ॐ श्री गणपतये नमः ॥

* मंगलाचरण *

हे बुद्धि-विद्या-ईश गणपति, बार-बार प्रणाम है।
करते कृपा जबतक न तुम, नहिं सिद्ध होता काम है॥
गण जो चौवीसों तत्त्वसे ब्रह्माण्ड-गात दिखा रहा।
इनका अधीश्वर एक तू है, अतः श्रुति गणपति कहा॥१॥

इनको अपानी स्फूर्ति१ देकर तू लगाता काममें।
वाणीपते ! तू-ही करे नित, वास कवि-उर-धाममें॥
जिनके हृदयमें तू नचाता, शारदा अपनी हरे !
कवि करहिं काव्य नवीन, सुन्दर, सरस, शुभ गुणसे भरे॥२॥

सुर, विष्णु, विधि, शिव आदि अस्तुति करत अरु धारत हिये॥
सबही अमंगल-साज मंगल होत तव सुमिरन किये॥
जिन-जिन गये तेरी शरण, नहिं पाप-गण उनको छुये।
मम काज भी तेरी कृपाकी, कोरसे अबतक हुए॥३॥

जिस तरह तूने करि कृपा नित लेख-शैलीको सिखा।
"आतम प्रकाश" रु "ज्ञान-अमि" आदिक सदा ग्रन्थन लिखा॥
परमार्थ मुझसे था कराया, जगतमें पहले प्रभो !
शुभ-विघ्न-हर तव नाम है, मम हृदयमें बस कर बिभो॥४॥

नोट—इस मंगलाचरणमें परमेश्वरके सगुण तथा निर्गुण दोनों स्वरूपोंकी वन्दना है। १—सत्ता।

इस "प्रेम वैराग्यादि वाटिक" को उसी सु-प्रकारसे ।
लिखवाइये मुझ मूकसे, यह विनय है सरकारसे ॥
इक आश तेरी है मुझे, तेरा गणेश सु-नाम है ।
मम लेखनीसे जगतका "कल्याण" हो, यह काम है ॥५॥

आनन्द-मूर्ति, प्रसन्नमुख करिके सरिस सुन्दर बना ।
मस्तक विशाल सु-चारु अङ्कित, भालपर सिन्दुर घना ॥
कल कर्ण कोमल हिल रहे कुण्डल जड़ित रत्नादिसे ।
चम-चम करें दुति दामिनी-सों, अधर छवि लम्बा दिपे ॥६॥

मद चू रहा गण्डस्थलोंसे भ्रमर-गण आकर तहां ।
पी-पी करें गुञ्जार शोभा अमित छायी है वहां ॥
छोटी बनी आंखें मनोहर, देखि मुनि-मन मोहता ।
नाना-पुहुप अरु मोतियोंका हार गरमें सोहता ॥७॥

नव-कान्ति-गण्डस्थल बनी, शिर-मुकुट मणियोंसे जड़ा ।
इक दन्त कनक मढ़ा हुआ, कटि-करधनी, पगमें कड़ा ॥
सुन्दर-शुभग-झंकार होता, नृत्य जब करते अहा !
लम्बा उदर पर सर्प राजित फुङ्करत अद्भुत महा ॥ ८ ॥

निज चारि भुजमें परश, अंकुश, कमल अरु मोदक लिये ।
शुचि गात पर फहरात है, पटपीत जो धारण किये ॥
शुचि चमर लेकर हैं खड़ी नित रिद्धि-सिद्धि वराङ्गना ।
"जिनकी कृपासे होत हैं मन इन्द्रियां वशमें घना ॥ ६ ॥

जिनके किये गुण-गानसे वह सरस्वती वश होति है ।
चिन्तन किये जिनके सफल, मन-कामना भी होति है" ॥
उन्हीं विनायकको नमत फिर भी यहां सद्भाव से ।
पद-कमलका धरि ध्यान लिखता ग्रंथ हूं अब चावसे ॥१०॥

प्रेम-वैराग्यादि वाटिका

उदारचेता महानुभाव श्री गयाप्रसादजी मिश्र (वुलापुर निवासी, बलिया)

* ॐ परमात्मने नमः *

अथ प्रेम, वैराग्यादि-वाटिका

पहली क्यारी

प्रेम (भक्ति)

भक्तिर्यदीयसगुणात्मनि शीघ्र शुद्धे
चित्तस्य साधनमतस्तदुपार्जनीयम् ।
भक्तो न नश्यति यतोऽवति तं विपद्भ्यो
भक्तप्रियस्तमनिशं स्मर बद्रिकेशम् ॥*

(बदरीशस्तोत्र)

---

*"भगवानके सगुण स्वरूपमें की हुई भक्ति (प्रेम) शीघ्र चित्त (अंतःकरण)—शुद्धिका हेतु होता है; अतः सम्पूर्ण मुमुक्षुओंको चाहिये कि उस भक्तिकी प्राप्ति सर्वदा करें। क्योंकि परमेश्वरके चरणोंमें जिसने अपनेको सर्वथा अर्पण कर दिया है; उस भक्तका कभी नाश नहीं होता है। जो परमात्मा इस लोक और परलोकको नाश करनेवाली आपत्तियोंसे भक्तकी रक्षा करते हैं; उन बदरीनाथका; हे मन, तू सर्वदा स्मरण कर।"

तुम जान लो यह ऐ सखे! बस प्रेम-पथ असि-धार है।
जो जन चढ़े इस धार पै लागत न लागे वार है॥
यह प्रेम-रोग लगा जिसे वह कुछ फिकर करता नहीं।
चलि जात दीप-पतङ्ग जिमि वह नाश से डरता नहीं॥ १॥

चहुं ओर काँटे पद्मके तो भी भवँर जाता अरे!
फँस जात है निशि कमलमें परवा नहीं कुछ भी करे॥
वह शब्द का प्रेमी हुआ मृग प्राणको तज देत है।
जिसका लगा चित जाहिमें कर ताहि से वह हेत है॥ २॥

है रस भरा क्या आगमें, खाता चकोर जिसे अरे!
चातक न पीता जल कभी, इक स्वाति जल पावन करे॥
वह हंस पत्थर खात है अहि मोर निगलत नित्यही।
विष अमिय सा पावक सुशीतल करत है इक प्रीतही॥ ३॥

यह प्रेम शर जिसको लगा, बस पागला वह होता है।
मिलते दुखी अरु बिछुरते कबहूं नहीं सुख होत है॥
मर-मर जिया जिसने पियाला प्रेमका यह पी लिया।
राजा हुआ भिक्षक फकीरी वेशको धारण किया॥४॥

है प्रीति करता जाहिसे जो, वह वही होता सही।
सत गुण नरायण श्वेत चहिये, रुद्र तम गुण श्यामही॥
पै विष्णु शिवमें प्रीति करनेसे हुए हैं श्यामही।
अरु रुद्र हरिमें प्रेम करनेसे हुए हैं श्वेतही॥ ५॥

भयसे करत जो प्रीति भृंगीमें सदा वह कीट है।
वस कीट-तनसे होत भृंगी प्रेम ही इक इष्ट है॥
भगवानमें करि प्रेमही भगवान होता भक्त है।
इक प्रेमहीके सूत्रसे गूंथा सकल यह जगत है॥ ६॥

झट ओखली भगवानको किसने वँधाया? प्रेमने।
नखपर धराया मेरुको किसने वरजमें? प्रेमने॥
खल राक्षसोंसे युद्धको किसने कराया? प्रेमने।
सारथि समर भगवानको किसने वनाया? प्रेमने॥ ७॥

तन्डूलको उस विप्रके किसने खिलाया? प्रेमने।
निज राज तजि श्रीरामको वन-वन फिराया प्रेमने॥
शुचि श्राद्ध था उस गृद्धका किसने कराया? प्रेमने।
उस सेवरीके वेरको किसने खिलाया? प्रेमने॥ ८॥
उस विदुरके घर शाकको किसने खिलाया? प्रेमने।

किसने वनाया था सखा कपि-भालुओंको? प्रेमने॥
उस द्रौपदीके चीरको किसने वढ़ाया? प्रेमने।
गज ग्राहसे किसने वचाया? एक ही उस प्रेमने॥ ९॥

भगवानको शूकर-कच्छप-मच्छ था वनाया प्रेमने।
नर-हरि प्रगट उस खंभसे किसने किया था? प्रेमने॥
वामन वना भगवानको भिक्षा मंगाया प्रेमने।
उस आगमें मंजारि-शिशु किसने वचाया? प्रेमने॥ १०॥

भरदूल शिशुको युद्ध-थलमें था बचाया प्रेमने।
उस व्याधसे रु कपोतको किसने बचाया ? प्रेमने ॥
निज मित्रमें जो प्रेम लागे "प्रेम" कहलाता सही।

पुनि गुरु जनोंमें जो लगे "श्रद्धा" कहाता है वही ॥११॥
तिय, पुत्र, सेवक आदि लघुमें "स्नेह" वह कहलात है।
अरु जब लगे ईश्वर विषे तब "भक्ति" वह सरसात है ॥
इस रीतिसे सुर, संत, नर, तिय, आदि पशु-पक्षी सभी।
हैं प्रेम-सांचेमें ढले नहिं विलग प्रीतीसे कभी ॥ १२ ॥

सचमुच नहीं है प्रेम-रूपी विरह जाके हृदयमें।
वह जीव मृतक समान है, बड़ि हानि ताके उदयमें ॥
पै असल है वह प्रेम जो भगवंतमें लागे अरे !
जिमि तैल बूंद बढ़े सलिल महं लहर ज्यों ज्यों संचरे ॥१३॥

जिमि सलिलसे कर प्रेम मीन वियोग छिन भर ना सहे।
मरकर धुलाती देह जलसे सींझनेमें जल चहे
भक्षण किये अति प्यास लगती मुयहु मानो जल चहे।
तिमि प्रेम होना चाहिये जो चाह प्रीतमकी रहे ॥१४॥

मैं बस इसी नियमानुसार सप्रेम भावुककी कथा।
वर्णन करूं धरि ध्यान श्री भगवानका मम मति यथा ॥
वह प्रेमके आवेशमें पागल सरिस आलापको।
है कर रहा यों मस्त हो, खोकर अपाने आपको ॥१५॥

"सुखसे पड़ा था मैं भले कुछ और था नहिं मानता।
नहिं स्वप्नमें भी इस तरहके प्रेमको पहचानता॥
पै तू अचानक आ मिला मम ऐ खिलाड़ी ! सामने।
शुत हृदय मानव है, अतः तुझको लगा मैं जानने॥१६॥

करतूतकी परवा न थी तेरी अरे ! अतएव मैं।
कुछ-कुछ मिलन वस नित्य ही करने लगा निरभेव मैं॥
फिर प्रेम जोती जग गयी इक धधकती-सी हृदयमें।
जिमि "भानुमणि" में आग बल रवि-किरणके नभ उदयमें॥

इस भांतिकी झलकें दिखाकर चित्त कर्षित कर लिया।
हर हृदयकी सब वासनाएं प्रेमरस इक भर दिया॥
फिर हो गया मुझसे जुदा मैं तड़फ कर रोने लगा।
तब विरहकी ज्वाला उठी मम गात सब जलने लगा॥१८॥

चारों दिशाओंमें फिरा मैं भटकता तेरे लिए।
तेरे सिवा नहिं दूसरा था जगतमें मेरे लिए॥
अब थी निराशा छा गयी वस जिन्दगी भी शेष थी।
आकर मिला फिर मुसुकुराते चेतना की लेश थी॥१६॥

फणिकी दशा मणि पाइके जिमि चांद पाइ चकोर की।
वैसी दशा मम हो गयी जिमि गंध पाये भौंर की।
फिर चाहते तुम भागना कैसी तुम्हारी रीति है ?
फिर भागते भो हो नहीं कैसी तुम्हारी प्रीति है॥२०॥

कुछ विधि-निषेध न आपको नहिं नीति है तेरे लिए।
है खेल तेरा ओ मनस्वी! दुःखदायक मम लिए॥
बहु आशिकोंको घर छुड़ा दर-दर घुमाया आपने।
तन-मन सकल मिट्टी मिला पागल बनाया आपने॥२१॥

जो इस तरह करना तुझे था क्यों फँसाया तू अरे!
निज-प्रेमकी ऐसी समस्या क्यों पढ़ाया तू हरे!
या तो सखे! मुझसे अलग हो जा सदाके ही लिए।
या तो रहो इकसा बने मम प्राण! प्रेमीके लिए॥२२॥

तुम साफ छिपते भी नहीं अरु सामने आते नहीं।
पूरी न करते आशको आशा-रहित करते नहीं॥
पहले छिपा मैंने रखा था प्रेमके इस भावको।
पै क्या छिपा कोई सके नर हाथ चाँद-प्रभावको॥२३॥

विख्यात सारे जगतमें अब बावला-सा हो गया।
काबिल रहा ना जगतके दिल भी हमारा खो गया॥
इस प्रेममें सब नेम टूटे जाति-पांति भुला दिया।
हम कौन हैं? कर्त्तव्य क्या? नहिं ख्याल भी इसका किया॥२४॥

भुख-प्यास भी लगती नहीं अरु नींद भी जाती रही।
तुम छीन हांसी भी लयी मन जो सदा भाती रही॥
रे रे चपल! बातें बता अब क्या तुझे है मिल रहा।
यह अलख चित-संदिग्ध-कारी खेल अद्भुत कर रहा॥२५॥

विश्राम लेता है न, लगता क्या तुझे अच्छा यहीं।
क्या चित्तमें है ? कर रहा क्या ? समझमें आता नहीं॥
आभा दमकती है तिहारी जगतकी सब वस्तुमें।
पै प्रगट होते हो नहीं हूं तड़फड़ाता अस्तु मैं॥२६॥

भौंरे करें गुञ्जार कोयल कुहुंकती है डार पै।
पक्षी करें कल-गान कुसुमित क्यारियां सरकार पै॥
आशा लगाये मिलनकी है त्रिविध वायू चल रही।
रवि-चन्द्र भी हैं खोजमें नदियां विचारी वह रही॥२७॥

उस विरहकी है आग वड़वानल जलधिके पेटमें।
गम्भीरतासे तन जलाता है तिहारी भेंटमें॥
गिरि-वृक्ष भी तप कर रहे सब मौन-धारी हो खड़े।
हैं शीत-वर्षा-उष्ण-वायू सर्वदा खाकर अड़े॥२८॥

ये प्रेम-मद माते सभी हैं ऐ छली! तेरे लिये।
आंखें पसारे हैं सभी तव दरश अमृतके लिये॥
अपनी व्यथा किससे कहूं, सवही विचारे दीन हैं।
चिर कालसे आशा किये पद-कमलमें लवलीन हैं॥२६॥

ऐसे पुजारी हैं जगतमें जब तुम्हारे ऐ प्रभो!
गिनती हमारी कब करोगे प्रेमियोंमें ऐ विभो!
टुक इन सबोंपर क्या कभी होगी तुम्हारी दृष्टि भी ?
अब क्या नहीं होगी कभी इनपै दयाकी वृष्टि भी ? ३०॥

सब ही पदारथ हैं तुम्हारे, सर्वपर अधिकार है।
तन-मन तुम्हारे हो चुके इन पै न मेरा प्यार है॥
कुछ भी न मेरा रह गया तो क्या करूं अर्पण तुझे।
होगी तुम्हारी रीझ कैसे क्या बता दोगे मुझे॥३१॥

सब कुछ कराता तू अरे! तेरा सुतरधर नाम है।
सब विवश हो करने पड़े जो तू कराता काम है॥
तुम ऐ मदारी! खूब खेलो, खेल जो तुझको भली।
हम काठकी हैं पुतलियां, है तू नचाता ऐ छली! ३२॥

कबहूं कराता पुण्य है, कबहूं डुबाता पापमें।
कबहूं घुमाता जगतमें, कबहूं लगाता आपमें॥
कबहूं करे सुर-लोक शशिके लोकमें रवि-लोकमें।
पितृ, किन्नर, यक्षमें गन्धर्व-विधि आलोकमें॥३३॥

कबहूं विराग बढ़ावता हम नारि, सुत, वित त्यागते।
कबहूं करे चित-राग तब सब विषय मनको भावते॥
छिनमें उदार, करे कृपण छिन रंक करि नृप करत हो।
कबहूं सुजाति-कुजाति साधु-असाधुता अनुहरत हो॥३४॥

क्या-क्या कहूं सब कुछ कराता काम तू हमसे अरे!
तुम तो सदा निर्लेप रहते भोगते हम हैं हरे!
फिर क्या कभी इस वेदनाका अंत भी होगा कहो?
यौंहीं विलखते क्या पड़ेगा सर्वदा रहना अहो!॥ ३५॥

तन में पिलापन छा-रहा चक्कर सदा दिल खा रहा।
फीके पड़े जगके सभी सुख कंप भी तन आ रहा॥
यह पापका फल उदय है या पुण्यका फल मिल रहा।
यह स्वप्न है, या सत्य है, कुछ भी नहीं जाता कहा॥ ३६॥

है चित्त व्याकुल हो रहा मैं क्या कहूं ? किससे कहूं ?
अब तो रहा जाता नहीं, हा! क्या करूं ? कैसे रहूं ?
यद्यपि हृदयकी पीरको तुम जानते हो सर्वदा।
आरत-विवश तद्यपि यहां दुख रो रहा हूं सर्वदा॥ ३७॥

फिर कानमें अँगुली दबा बैठा अरे! सुखसे भले।
रे रे निठुर! रे निर्दयी! यह प्रान चाहत अब चले॥
आखिर पखेरू प्रान यह तन से निकल जब जायगा।
तू सार ना कुछ पायगा कर मींस कर पछतायगा॥ ३८॥

होंगी कृतारथ आँख क्या लखि वदन-शोभा आपकी ?
इक बार फिर मिल जायगी क्या स्वच्छ झाँकी आपकी ?
सुन्दर मनोहर मधुर अमृत-से कभी क्या वचन को;
करके श्रवण ये श्रोत्र धन्य मनायँगे निज जननको ?॥ ३९॥

पग भी करेंगे नृत्य फिर सेवा करेंगे हाथ भी।
नित दास-स्वामीके सरिस क्या तन रहेगा साथ भी ?
इकमात्र तू-ही है हमारा अधिक मैं अब क्या कहूं;
लाचार हो, हैरान हो, जो कुछ सहाता सब सहूं॥ ४०॥

कह दी पुकार-पुकार-के अपनी दशा हमने सभी।
नहिं दरश देता तू कभी, उत्तर न देता तू कभी॥
यह छाप तेरे रूपकी जो हृदयमें है पड़ गयी।
कह, क्या कभी इसको मिटा सकता है तू ऐ निर्दयी! ४१॥

अब श्रवण-इच्छुक हैं सदा ये श्रोत्र उत्तरके अहो!
चहुं ओर देखे नयन हैं पै तू हठी आते न हो॥
तुम तो दयालु-कृपालु हो किमि नाथ इतना हठ गहे?
आरत-विवश हम आपको हा! दुर्वचन क्या-क्या कहे॥४२॥

जग पतित-पावन नाम तेरा तो महा हम पातकी।
अशरण-शरण तू हीं मुझे नहिं ज्ञान-विधि,तप-जापकी॥
हम मूढ़ हैं, मतिहीन हैं, सब-गुण रहित धरणीधरम्।
श्रुति-शेष-शारद वदत निशि-दिन जान नहिं सकते मरम्॥४३॥

नर-देव-दानव स्वार्थ-रत सब ग्रसित माया-मद-भरम्।
कर जोरि कर विनती करूं हे नाथ! तुम करुणाकरम्॥
हे विश्व-व्यापक! जगत-पति! हे देव-देव! विश्वम्भरम्।
हे दीन-बन्धु! अनाथके तुम बन्धु-गुरु-पितु-मातरम्॥४४॥

हे ईश! तुम सर्वज्ञ हो, हम मूढ़-बालक शरणमें।
हो एक कारण विश्व-के, तुम जन्म-पालन-मरणमें।
हम दीन हैं, तुम दीन-बन्धु, अजान हम, तुम ज्ञान हो॥
हम दास हैं, तुम स्वामि-पालक, हम प्रजा-के प्रान हो॥४५॥

तुम ब्रह्म हो, हम जीव हैं, हम पुत्रके तुम-जनक हो।
हम हैं पुजारी, मूर्ति तुम, हम लोहसम, तुम कनक हो॥
नाते दिखाहिं अनेक तुमसे हे दयामय! शांतमय
अतएव नित सम्बन्ध तुझसे है हमारा नीति-मय॥४६॥

चहुं ओर नाते-जालको हमने बिछाया है प्रभो!
तुम भाग जाओगे किधर, अब जालसे बचकर विभो!
अब तो निभाना ही पड़ेगा एक भी नाता पकड़।
हम भागने देंगे नहीं, तुझको रखे हैं अब जकड़॥४७॥

है भी प्रतिज्ञा आपकी जो नर भजे जिस भावसे।
उस भावहीमें मैं मिलूं उसको सदा सद्भावसे॥
मम हृदयका जो भाव है वह क्या छिपा तुझसे कहो।
तिय, शूद्र, वैश्य, समान भी तव शरणसे तरते अहो॥४८॥

पापी-शिरोमणि भी सपदि तव भजनसे साधू हुए।
गो-पद सरिस भवसिन्धुसे वे बिनु प्रयासहिं तर गये॥
तव नामकी महिमा अमित् तू रहत उसके वश सही।
यह बात शारद, शेष, विधि सब संत सद्ग्रन्थन कहीं॥४९॥

जरि जायं विद्या-बुद्धि वे सरकारका जब ज्ञान ना।
वह ज्ञान नहिं अज्ञान है जब आपका पहिचान ना॥
तव नामको रसना रटी नहिं जाय गिर धरणी विषे।
जिस हृदयमें तव ध्यान ना, हम गगन सा मानत उसे॥५०॥

गुण-गान तव श्रवणन किये नहिं कर्ण वे वहरे भले।
वे पैर नहिं दो थंभ, जो तव-धाम जानेसे टले॥
सेवा किये नहिं हाथ, तो वे हाथ व्यर्थ बने अरे॥
तव पद-कमल-में नत नहीं, शिर फूट जाना था हरे॥५१॥

परिवार नहिं कंटक-विपिन, जो विमुख करता आपसे।
हे भक्त वत्सल! नाथ! तुम रक्षा करत तिहुं तापसे॥
वह मान नहिं अपमान है, धन विष समान बखानिये।
वञ्चित करें जो आपसे, वह मित्र भी रिपु जानिये॥५२॥

खर, काक, शूकर, श्वान आदिक योनियोंमें भरमते।
चिरकालसे वंचित रहा है नाथ! सुखको तरसते॥
तव विस्मरण-फल मिल रहा इस लोकमें मुझको हरे।
दुख-जन्म, मृत्यु, जरा, विविध-रुजसे ग्रसित हम हैं अरे॥५३॥

सुत, जनक, जननी, तिय, सहोदर, आदि भी रक्षक नहीं।
नहिं विपुल धन, नहिं प्रचुर बल, निज बाहुमें कुछ सक नहीं॥
नहिं साथ पण्डित जन समागम-सन्तका मैंने किया।
विश्वास-करि श्रद्धा सहित नहिं तीर्थका आश्रय लिया॥५४॥

विधिवत किसी सुरका न पूजन आजतक मैंने किया।
उदर भरत पर हाथसे मम जिन्दगीको है छिया॥
उर-कंप होता है सुमिरि पहले किये निज पापको।
संचित न होते पाप तो हम भूलते किमि आपको॥५५॥

हे नाथ ! स्वारथ-ग्रसित सुर-नरके न काबिल मैं रहा ।
वे हो सकें रक्षक न, उनको खुद लगा बन्धन महा ॥
बेसक रहूं सब योनियोंमें कुछ नहीं चिन्ता मुझे ।
पै आपमें ही प्रेम मेरा चाहिये करना तुझे ॥५६॥

पाकर भला क्या आपको नर भटकता है योनिमें ?।
फिर और क्या दरकार कुछ भी भी शेष रहता छोनिमें ?॥
हर लो हमारी बुद्धि-विद्या धर्म-कर्म सभी प्रभो !
गुण-श्रेष्ठता, कुल-श्रेष्ठता, मर्यादिता, धन भी विभो ॥५७॥

वैराग्य, योग, समाधि, संयम, याग, त्याग समन करो ।
यम, नीति, नेम, विचार, जप, तप, साधुता सबही हरो ॥
तुम भस्म कर दो ज्ञानको मिट्टी मिला दो मानको ।
दो; तोड़ि नाथ ! अचारको परिवारके अभिमानको ॥५८॥

दो; जाति पांति नसाइ सब नाते हरो संसारके ।
बाधा पदारथ जो करें इस प्रेम में सरकारके ॥
वे धूल में सबही मिलें नहिं दास को कुछ काम है ।
निज-प्रेम-भिक्षा बस मिले चाहत यही सु-इनाम है ॥५९॥

गति आपमें, रति आपमें, सन्तुष्टता हो आपमें ।
विश्राम पाऊँ आपमें, फिर चितमें नित आपमें ॥
आमिप-अहारी गृद्धने तप था कवन जगमें किया ।
पितु-सरिस करके श्राद्ध तुमने धाम निज उसको दिया ॥६०॥

वन त्यागि मुनि-गण सेवरीका नाम पूछत चल दिया।
कुल श्रेष्ठ जग में कौन थी जो वेर उसका खा लिया॥
कुरुराजके षटरस-पदारथ कर दिये थे त्यागही।
अरु प्रेम-युत पावन किया था विदुर के घर शाकही ॥६१॥

अध्ययन कीन्हा कवन गज जो ग्राहसे रक्षा करी।
उस द्रोपदीने कौन-सा तप कर दिया था उस घरी॥
तुम चीर हो बढ़ने लगे तव हार दुःशासन गया।
विस्मित सुयोधन हो गया यह दृश्य लखि अद्भुत नया ॥६२॥

फिर द्रोपदी कहने लगी आरत-हरण! स्वामी हरे!।
मम काज इतनी देर किमि हे नाथ! गज झट उद्धरे॥
"निज साथियोंका शीघ्रही गजने तजा अभिमान था।
बहु देर तक तुझको अरे! पति पांडवोंका मान था" ॥६३॥

यद्यपि यही उत्तर तुझे था उस समय देना वहां।
पर भक्त-वत्सल! शील वश तुमने कहा था यह वहां॥
हे द्रोपदी! न पुकार सुनि मैं काम था जड़ का किया।
इस लाजसे आनन छिपा जड़ चीर हो दर्शन दिया ॥६४॥

भगवान! तुम तजि बात ऐसी कवन कह सकता भला;
अच्छा कहो अब; कौन था कीन्हा अजामिल मख भला॥
इक बार 'नारायण' कहत गति दीन्हं शुभ उसको प्रभो!
प्रह्लाद दान किये कवन जिनके लिये प्रगटे विभो! ॥६५॥

अद्भुत-अलौकिक धरि भयङ्कर रूप नरहरि खंभसे।
तुम दैत्य पतिका किन्ह वध जो था भरा मद-दंभसे ॥
वह कौन था शुभ कर्म कीन्हा व्याध जो मुनिवर हुआ।
तारी अहिल्या आपने तत्काल ही पद-रज छुआ ॥६६॥

स्वामिन्! गिनाऊं मैं कहांतक पार पा सकता नहीं।
केवल तुम्हारे नामसे अरु प्रेमसे लाखों कहीं॥
जग खल अनन्त-असीम तरकर अचल मुक्ती पा-गये।
मेरे लिये क्या ठौर नहिं जो मौनही तुम हो गये ॥६७॥

अच्छा; करो जो मन रुचे, पर याद रखना ऐ सखे!
तेरी लगन जब है लगी मन और कुछ भी ना लखे !!
तेरी लगन मस्ती चढ़ी सुख हो रहा अद्भुत महा!
इस सुख सरिस क्या और लोकोंमें मिलेगा सुख अहा !!६८॥

न स्वर्ग-सुखकी चाह है नहिं नर्कका डर अब रहा।
पर शोच है इस बातका होगा तुम्हें अपयश महा॥
परतीति अब घट जायगी तेरी जगतमें भजनकी।
सब जन कहें प्रभु सुधि नहीं अब लेत हैं निज जननकी ॥६९॥

हरि! क्योंकि तेरे नामसे यह दास अब विख्यात है।
जगमें तुम्हारे नामहींपर अशन-पट सरसात है॥
जो जन भजे जिस भावमें उस भावमें ही सरसता।
तुझको बनाने स्वांगमें कुछ भी नहीं श्रम दरसता ॥७०॥

वेदान्तियोंका "ब्रह्म" तू; "शिव" शैवका तू ही बना।
"बुधदेव" बौधोंका नैयायिक का अरे! "कर्त्ता" बना ॥
"अर्हत्' सदा हो जैनियोंका नित्य शासन करत तू।
मीमांसकोंका "कर्म" शाक्तोंका कहाया "शक्ति" तू ॥७१॥

गण-ईश भक्तोंका बना, "गणपति" रु वैष्णवका हरी।
"आदित्य" हो रवि-भक्तका, मन-कामना पूरण करी ॥
कहुं देव हो, कहुं पितृ हो, कहुं यक्ष हो, कहुं प्रेत हो।
अर्पित करें जन जो पदारथ वे सभी तुम लेत हो ॥७२॥

पै वे विचारे कामनाओंसे भरे अति मूढ़ हो।
नहिं जानते तेरा कपट उनको कहांसे ढूँढ़ हो ॥
मन-भावनो दे वस्तु उनको और भी पागल करे।
वे तो समझते हैं कि "मेरा इष्ट देता है अरे ॥७३॥

मम इष्ट सबसे श्रेष्ठ है अरु दूसरे असमर्थ हैं।"
महिमा तिहारी प्रबल है सब तर्कनाएं व्यर्थ हैं ॥
पूजन करनमें आपका अरु अन्यका भी ऐ प्रभो।
होता परिश्रम तुल्य पै फल भिन्न होते हैं विभो ॥७४॥

सरकारको जो जानकर भजते सदा सद्भावसे।
सरकारमें ही वास पाकर छूटते सब तापसे ॥
है एक और विशेषता फिर आपमें परमात्मा।
इक आध ही फल-पुष्प या जल अल्प ही दे आतमा ॥७५॥

होते प्रसन्न परम उसीमें प्रेम पै चहिये अरे!
विधि-वस्तुके भूखे न तुम, इक भावके भूखे हरे।
सुर आदिके पूजन करनमें जो रही त्रोटी कहीं।
पागल बनाते कोप करि मन-कामना देते नहीं ॥७६॥

पागल बनाते वे नहीं तेरी सभी करतूत है।
भटके हुएको तू सुझाता जीव जो पथ-च्यूत है॥
देता यही शिक्षा अरे! नर द्वैत–भाव तजो सभी।
सब देवमें, सब मूर्तिमें; मम भावना कर लो अभी ॥७७॥

मैं ही भरा सब भूतमें, सब यज्ञमें, सब कर्ममें।
तू चित लगा अतएव रे! मम शरण–रूपी धर्ममें॥
जब बात ऐसी है प्रभो! यह दीन भी अरजी करे।
रख लीजिये अपनी शरण करि दासपर मरजी हरे॥७८॥

उपहार काबिल कुछ नहीं मैं देखता संसारमें।
जिसको कि परम प्रसन्नतासे भेंट दूं सरकारमें॥
जल क्या चढ़ाऊं सिन्धु हैं तेरे रचे श्रुति कह रही।
गङ्गा तुम्हारे कमल-पदसे है निकलकर बह रही॥७६॥

चन्दन प्राकृतिक है तुम्हारा ही चढ़ाऊं गंध क्या?
तेरी सुगन्धी आ रही हर फूलसे फिर फूल क्या;
प्रभु मैं चढ़ाऊं आप पै, रवि-चन्द्र दीपक जल रहे।
सब ज्योतियोंकी जोति तू है शास्त्र-श्रुति यह कह रहे॥८०॥

है आपका अपमान करना व्यर्थ ही दीपक जला।
तेरा विशंभर नाम है जो विश्वको भरता भला॥
भुख-प्याससे जो रहित हो, तब भोग क्या तुमको लगे।
निर्गुण-अनन्त-अखण्ड-व्यापक, जगतमें तुम सब जगे ॥८१॥

तब आभरण-भूषण कहां, किस अंगपर तेरे चढ़े।
अनहद तुम्हारा बज रहा सुर-ताल हैं हरदम चढ़े॥
तब क्या बजाऊं ? झांझ,-भेरी-ढोल-डफु-मिरदङ्गको।
धन किमि करूं अर्पण प्रभो ! तुझ लक्ष्मि-पति-निःसंगको॥

तेरे रचे सब दीप हैं तहं बसत जीव अनेक हैं।
गिनती गिनावें क्या तुझे अपनी जहां हम एक हैं॥
सुर-सिद्ध गान करें सदा श्रुति नेति-नेति कहा करे।
फिर बुद्धि-विद्या रहित हम विनती करें किमि हे हरे! ८३॥

तेरेहि द्वारे आगया अच्छा बुराना है नहीं।
मम टेक भी बस है यही अब और नहिं जाऊं कहीं॥
बिगड़ी सभी बन जायगी, मम टेक भी निभ जायगी।
मम भाग्य भी सरसायगी, करुणा कभी उपजायगी ॥८४॥

शुचि प्रेम-भिक्षा पाइके झोली कभी भर जायगी।
मम टेर याद दिलायगी चख-कोर भी फिर जायगी॥
तब ताप-त्रय मिट जायंगे अरु शीघ्र कुमति नशायगी।
फिर काल-उरग विलायगा जड़ता सकल मिट जायगी ॥८५॥

उरमें कुतर्क न आयंगे भव-पीर भी न सतायगी।
ये स्मृति-क्षमा-मेधा और धृति भी हृदयमें छायंगी॥
मम गात करुणा-सिंधुकी इक वून्द भी पड़ जायगी।
हो जाउंगा छिनमें निहाल दरिद्रता मिट जायगी॥८६॥

भ्रम-शोक-मोह नशायँगे संशय कभी न सतायगा।
जीवन सफल हो जायगा चिन्ता कु-भ्रम मिट जायगी॥
स्वामी सुभग पा जायँगे जगमें सनाथ कहायँगे।
हम धन्य-धन्य कहायँगे संसृति-भवँर न फंसायँगे॥८७॥

पंकज-हृदय विकसायगा निज सहज रूप समायँगे।
क्या कल्पतरुको पा मनोरथ विफल मम हो जायंगे?
भगवन्! तुम्हारे द्वारसे कोई विमुख जाता नहीं।
प्ररक हरे! सब जगतका कुछ अगम तुझको है नहीं॥८८॥

अघटित करे सुघटित समस्या घटित, अघटितको करे।
तेरे लिये सब खेल है संकल्प तेरा ना टरे॥
बस रोम-रोम समा रहे तुमहीं प्रभो! सब गातमें।
सब कुछ कराता तू हरे! जो कुछ करू' दिन रातमें॥८९॥

तू-हीं कहाता है सदा तू-हीं सुनाता सर्वदा।
आँखें दिखें तुमसे अरे! पगको चलाता है सदा॥
इत्यादि सब कर्मेन्द्रियां अरु प्राणके व्यवहारको।
तू-हीं कराता है सदा अंतःकरण-व्यवपारको॥९०॥

ज्ञानेंद्रियोंके काज भी हे देव! आप करा रहे।
सब कुछ कराता तू अरे! हम भूलकर यह कह रहे॥
सब कुछ बना सबमें समा, इक आप ही जब है रहा।
नहिं दूसरा जब शेष है तब कौन करनेको रहा॥६१॥
सब कुछ स्वयं करता हरे! नहिं और करनेको रहा।
तू हीं सकल जब है जगत संकोच किससे कर रहा॥
भय-लाज क्या होते कभी निजसे निजहि संसारमें।
माया-जनित संसार यह अब है कहां सरकारमें॥६२॥
जब एक मायातीत तू-ही, मैं नहीं तब रह गया।
'मैं' के बिना 'तू' ना रहे, अतएव 'तू' भी खो गया॥
'मैं' 'तू' सकल जब मिट गये तब एक ही वह रह गया।
मन-बुद्धि-वाणीसे परे जो शास्त्रने वर्णन किया॥६३॥
अब क्या कहे किससे कौन, किसका कौन सुनता यहाँ?
किसके लिये व्याकुल कौन? किसको कौन देखें यहां?
वे धड़बड़ाहट-तड़फड़ाहट व्यर्थ ही सब थीं हुईं।
सब कामनाएं ना रहीं अब शान्तिकी प्राप्ती हुई॥
मायिक पदारथके लिये हैरान था नाहक हुआ।
परमार्थ तत्त्व मिला जहां, तहँ प्राप्त परमानँद हुआ॥ ६४॥
आनन्द कहते भी नहीं बनता यहां पर ऐ सखे!
बस मूक ही होना पड़े इस अलख गतिको को लखे।
गूङ्गा न कहता स्वाद-गुड़, तिय पुरुष-सुख नहिं कह सके।
वह पैठि-वारिधि लवण-पुतली थाह-जल क्या कह सके॥६५॥

भगवानमें मिलि हो गया भगवान जब वह भक्त है।
तब आप ही इक है, न उसकी दृष्टिमें यह जगत है॥
जगसे विलक्षण हो गया सब मान-मद-ईर्षा तजा।
बेसुध हुआ आनन्दमें उर शोक-मोह न है लजा॥ ६६॥

बस, भक्तिका फल है यही अरु साधनाका अंत है।
जीवन-मुकुत होकर जगतमें विचरता वह संत है॥
करि श्रवण१-कीर्तन२अरु स्मरण३फिर पाद-सेवन४भी किया
अर्चन५ पुनः वन्दन६किया फिर दास्य७-भाव हृदय लिया॥६७॥

फिर सख्य८ हो करके हुआ आतमनिवेदन९ अंतमें।
आतमनिवेदन करत ही लय हो गया भगवंतमें॥*
यह प्रेमकी क्यारी सदा जो प्रेमसे सेवन करे।
वह भी मिले भगवानमें फिर "राम जन्म" न भव परे॥६८॥

१=भगवानकी कथा सुनना। २=भगवानके गुणानुवादका गान करना। ३=भगवानका ध्यान करना। ४=भगवानके चरणोंकी सेवा अथवा प्रधान २ धामोंका सेवन। ५ भगवानकी प्रतिमाका पूजन। ६=भगवानकी वन्दना करना। ७=अपनेको दास मानकर भगवान-की भक्ति करना। ८=भगवानको सखा मानकर प्रेम करना। ९= भगवानमें अपने आत्माको अभेद भावसे अर्पण कर देना।

*नोट—यही "नवधा भक्ति," भगवत्प्राप्तिका सरल साधन (उपाय) है।

दूसरी क्यारी

वैराग्य

भोगे रोग भयं कुले च्युत भयं वित्ते नृपालाद्भयम् ।
शास्त्रे वाद भयं रणे रिपु भयं काये कृतान्तं भयम् ॥
मौने दैन्य भयं बले खल भयं रूपे जराद्भयम् ।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥*

(भर्तृहरि शतक)

सब कामना तजकर करे वैराग्य नर धारणा यदा ।
उपराम विषयोंसे हुआ वह मोक्ष पद पावे तदा ॥
विषया तजो विष जानकर भज तोष आर्जव-दम-क्षमा ।
वह ब्रह्म-पूरण-सच्चिदानँद एक घट-घटमें रमा ॥ १ ॥

---

*विषयभोगमें रोग (व्याधि) का भय है, कुलमें पतन (पतित) होनेका भय है, धनमें राजाका भय है, कि छीन ले, शास्त्रमें वाद (झगड़ा) का भय है, समरमें शत्रुका भय है, काया पानेमें काल का भय है; मौनमें दीनताका भय है, शारीरिक बलमें खल (दुष्ट) का भय है और रूपमें निश्चय करके बुढ़ापाका भय है। मनुष्योंको पृथ्वीमें सम्पूर्ण पदार्थ भयदायक हैं; केवल एक-वैराग्य ही अभय है अर्थात् इसमें कुछ भी भय नहीं है।

मृग जल सरिस विषया सभी करि सत्य मन दौड़ायगा।
मृग-सरिस तू भटकायगा नहिं सार कुछ भी पायगा॥
नर-लोक सुर-पुर, नाग-पुर, विधिलोकतक जो जायगा।
वैराग्य बिनु दारिद दुखित रह शीघ्र ही गिर जायगा॥ २॥

दुख पापका फल जानिये, जो राग, ईर्षा, द्वेषसे।
नहिं मुक्त होगा स्वर्गको भी प्राप्त हो इस क्लेशसे॥
बहु पुण्य, अघ अति न्यूनका फल स्वर्गलोक बखानिये।
तपसे दुखी तपधारियोंके इन्द्र रहते जानिये॥ ३॥

अति क्लेश होगा तू अगर धनको नितान्त कमायगा।
नृप, अग्नि, चोर, स्वजातिसे रक्षा करत दुख पायगा॥
धन नष्ट होनेपर सदा सिर पीटकर पछतायगा।
वैराग्य कर धनसे तभी तू मोक्ष-पदको पायगा॥ ४॥

नर! नारि लखि सुख-मूल तू भ्रमसे यदा ललचायगा।
साधन विफल हो जायगा असि-धार-सा कट जायगा॥
बल, बुद्धि, तेज, नशायगा तन रोग-शोक फँसायगा।
वैराग्य कर दे नारिसे तू मोक्ष-पदको पायगा॥ ५॥

पढ़ि शास्त्र वाद बढ़ायगा कहुं हार खा पछतायगा।
तनको बुढ़ापा खायगा तब रूप बल चल जायगा॥
कुल श्रेष्ठके अभिमानसे तू पतनका डर पायगा।
अपमान तोहिं सतायगा जो मानसे हरषायगा॥ ६॥

जब द्वैत भाव बढ़ायगा, जगसे सदा भय पायगा।
कुटिया अगर बनवायगा जंजालमें फँस जायगा॥
चेले कुपंथ चलायँगे जगमें हँसी करवायँगे।
जब द्वैत दृष्टि हटायगा मद, काम, क्रोध, नशायँगे॥ ७॥

धन भी गड़ा रह जायगा पशु भी रहेंगे १ थानमें।
नारी रहे घर बीच ही जो थी सदा सनमानमें॥
रखकर चितापर फूंक देंगे जन सगे परिवारके।
वह नहिं दिखे डूबा रहा तू प्रेममें जिस यारके॥८॥

कर दे अनात्म पदार्थसे वैराग्य नर अतएव तूं।
सुख रूप नित्य अनादि भज आतम सदा निरभेव तूं॥
करि कर्म शास्त्र निषिद्धको तू नीच योनि फँसायगा।
अरु विहितको करके सदा तूं ऊँच तनको पायगा॥६॥

सब भोग कर निज कर्मफल फिर मृत्युमुखमें जायगा।
तू कर्मके अनुसार फिर भी योनियोंमें छायगा॥
शुभ-अशुभ कर्मोंके लिये संसृत-भँवर अटकायगा।
तज दे अशुभ-शुभ कर्मको नर मोक्ष पदको पायगा॥१०॥

शरवण-मनन-निदिध्यासनादि न करि किया निजको सुखी।
फिर चार-आकर-चतुरसी-लछ भरमिके होगा दुखी॥
मैथुन, अहार रु नींद-भय, सब योनियोंमें थे सभी।
यह साधना तजि नर शरीर न औरमें होगी कभी॥११॥

१=पशुशाला।

कुच-पान करि बहु योनियोंका भोग भी तुमने किया।
सब कुछ पदारथ खा चुका संतोष क्या तुमने किया?
सब विषयके सुख भोगकर क्या तृप्ति होती है कभी?
परि अनलमें घृत आज लगि क्या अनल शान्त हुआ कभी? १२॥

जिस योनिसे पैदा हुआ उस योनिमें रति फिर किया।
जो पान करि तन पुष्ट भा मर्दन उसे तुमने किया॥
इससे न होगी नीचता बढ़कर जगतमें ऐ सखे!
फिर भी नहीं वैराग्य होता नीच मारगको लखे॥१३॥

हाथी परसमें, गंधमें षट पद, पतंग रु रूपमें।
फंसि शब्दमें मृग, मीन रसमें परत हैं दुख-कूपमें॥
पड़कर विषयमें ये सभी दुख भोगते अनजानते।
आश्चर्य है सेवत विषय नर दुःख-फलको जानते॥१४॥

मल-मांस-मय तनमें न रञ्चक१ दीखता कछु सार है।
है क्या नफा तुझको अरे! इतना करे जो प्यार है॥
मुखमें भरा है लार नसमें मरज है गन्दी भरी।
भर खोंट कानोंमें नयन बिच कींच रहता हर घरी॥१५॥

इस मूत्र-इन्द्रियसे गिरे हैं मूत्र, गुदसे मल भरे।
रज-बीज-हीसे जो बना फिर शुद्धता किमि है हरे!
तव पास ही है स्थूल-कारण लिंग३ तीन शरीर जो।
है मूढ़ता अति दूसरेके हेतु होत अधीर जो॥१६॥

१=थोड़ाभी। २=स्थूल शरीर। ३=सूक्ष्म शरीर।

वे मांस-भक्षी गृद्ध-जम्बुक१ खा-गये होते कभी।
शरीर पर परदा न होता चर्मका क्षणभर जभी॥
जठराग्निमें निज मातुके जब सो रहा था तू अरे!
शिर नीच ऊपर पैर आवां-सा तपे तहं तू हरे!॥१७॥

दुर्गन्ध-युत संकीर्ण-थलमें कष्ट अति अनुभव किया।
आरत-हरण-भगवान-हरिने ज्ञान तव तुझको दिया॥
बहु जन्मकी सुधि आ-गयी करने लगा विनती महा।
इस घोर कुम्भी-पाकसे बाहर निकल जाऊं अहा!॥१८॥

सब तजि भजन करि ईशका यह गर्भ-कष्ट मिटाउंगा।
हठ-योग करि मन-इन्द्रियां स्वाधीनमें अब लाउंगा॥
करि सांख्य शास्त्र विचार छुटकारा प्रकृतिसे पाउंगा।
वेदान्त शास्त्र विचार करि माया समूल नशाउंगा॥१९॥

निज आतमामें जगतका अध्यास सकल मिटाउंगा।
पूरण सनातन ब्रह्ममें दृढ़ आत्म-वृत्ति लगाउंगा॥
अपरोक्ष करि निज रूपको दुख-जन्म-मृत्यु नशाउंगा।
सुखसे विचरि अब जगतमें जीवन-मुकुत कहालाउंगा॥२०॥

रे जीव, तुमने इस तरहका बहुतसा आग्रह किया।
हरि किन्ह बाहर गर्भसे तव मातुका आश्रय लिया॥
पुनि भूख-प्यास सतावई नहिं बोल सकता बात भी।
शीतोष्ण आदिकसे दुखी रो-रो बितें दिन रात भी॥२१॥

१=स्यार, गीदड़।

शिशु खेलमें युवती सहित सारा युवापन खो-दिया।
मद-काम-वश-मिथ्या-वचन-हिंसा-हरण-परधन किया॥
पुनि भा-जरा-वश शोक-मोह विकार सब उरमें बढ़े।
निन्दा करें जिनके लिये तुम पाप सब शिरपर मढ़े॥२२॥

रे रे! कृतघ्नी? नीच! तू निज कौल ध्यान न लावई।
सब इन्द्रियां तन शिथिल भा तृष्णा-तरंग बढ़ावई॥
अब कालके मुख जायगा तू हाथ मलि पछतायगा।
तिय, बंधु, बांधव, पुत्र, पौत्र न संग धन कुछ जायगा॥
वह भूल कर शिर-चोटको जिमि श्वान घर पैठत भले।
तियप्रसव-दुखको भूलकर फिर भी मिलति पतिके गले॥२३॥

तिमि मूढ़ तेरी है दशा अब भी विराग करे नहीं।
इस भरत-खण्ड समान तुझको क्या मिलेगा थल कहीं॥
सुर भी सदा इच्छुक रहें इस भूमिमें नर-तन मिले।
करि साधना पद-मोक्ष पाऊं रोग-भव संसृति टले॥२४॥

काशी, अयोध्या, द्वारिका, मथुरा सरिस पुरियां जहां।
सुरसरि सु-पावनि वह रही क्या बात सम्पतिकी तहां॥
इस देशमें गीता-अमिय हरिके वदनसे निर्गता२।
जो पान-पुट३ श्रवणन किये ते शान्ति-सुख है सरसता॥२५॥

गति-इच्छु पुरुषोंके लिये इकमात्र गीता पोत४ है।
भव-अब्धि४ से जिसको मनन करि पार हरि-जन होत है॥
श्रुति-सेतु५ पालक राम पुरुषोत्तम जहांपर थे हुए।
तिहुं-लोकमें यश-विशद जिनका छा-गया बिनु अघ छुए॥२६॥

१=जन्म-मृत्यु। २=प्रगट हुआ। ३=मार्ग। ४=जहाज। ५=संसाररूपी समुद्र।

शुभ चरित-रामायण-मनोहर-ललित कहकर श्रवण कर।
जग सुयश-भाजन-कीर्ति-भाजन-मुक्ति-भाजन होत नर॥
जहं विप्र-शिशु शृङ्गी वचन ते नृपतिको तक्षक डंसी।
तप-धारियोंके तापसे यम दूत मुख लाते मसी॥२७॥

गौतम कणाद-वशिष्ठ-नारद-व्यास-कपिलाचार्य थे।
हरिचन्द्र नृग-बलि-कर्ण-दानी हो गये जहं आर्य थे॥
षट शास्त्र भी जहं कर रहे प्लावित१ अमिय-उपदेशसे।
बढ़कर कहीं क्या देश होगा जगतमें इस देशसे॥२८॥

बहु पुण्यसे इस देशमें नर-गातको हरिने दिया।
हरि-भजन करके आपको उद्धार ना तुमने किया॥
विट२-कीट-सों विषयोंसे फिर नहिं जन्म भर तू हा बुरा!
रे रे नराधम! मारता तू हाथ निज जीवन बुरा॥२९॥

वेदाध्ययन-व्रत-ब्रह्मचर्य-शमादि-तप-जप करि क्रिया।
वह ब्रह्म जानन हेतु श्रुतिने प्रथम आश्रमको किया॥
तहं मूढ़ तू निज रूपसे वंचित हुआ जगमें लगा।
श्रुतिने विचारी यह लगा कामादिसे जाने ठगा॥३०॥

छति हो रही लागे विषयमें पै अधिक हानी हो नहीं।
नियमति करी विषयोपभोग बना गृहस्थाश्रम वहीं॥
तब करि गुलामी बन्धु-बांधव-पुत्र-पौत्र-कलत्रकी।
बहु दुर्दशा तुमने करी फंसि विषय इन्द्रिय-गात्रकी॥३१॥

---

१ = आर्द्र। २ = विष्ठाका कीड़ा।

सब इन्द्रियां निर्बल हुईं तन भी थका जो था नया।
वह आत्म-सुख तुमने तजा जिस हेतु, सुख सो भी गया॥
जब लोक अरु परलोक तक भी जीव तुमने खो दिया।
तब करि कृपा जननी सरिस श्रुतिने तिसर आश्रम किया॥३२॥
हो वानप्रस्थी करि चतुष्टय-१साधना अब भी हरे?
उस नित्य सुखको प्राप्त कर भव-कूपमें जिमि नहिं परे॥
करि वासनाएं२ दूर दृढ़-वैराग्य-मन-स्वछन्द हो।
संन्यास ले जीवन बिता, सुखसे विचर निर्द्वन्द हो॥३३॥
उन वानप्रस्थ-गृहस्थ-आश्रममें गये झंझट महा।
कर दे अतः तू प्रथम ही वैराग्य आश्रमसे—अहा?
वैराग्य हो दृढ़ जिस घड़ी, हो जा यती तू उस घड़ी।
नहि ज्ञात नर-तन कब छुटेगा मौत वह शिरपर खड़ी॥३४॥
उस ब्रह्मचर्य बिना गृहस्थाश्रम नहीं होता कभी।
भवनस्थ बिनु नहिं वानप्रस्थ विराग हो यति हो तभी॥
हो वानप्रस्थ गृहस्थ अथवा ब्रह्मचर्याश्रम रहे।
उर दृढ़-विराग हुए यती हो जाय अस आगम कहे॥३५॥
धरणी-शयन भिक्षा-अशन कर-पात्र सुखकारक बने।
बस, वृक्ष-छाया घर बना पथ-चीर-वसन सुहावने॥
निर्मल-मधुर आरोग्य-प्रद जल-धार नदियोंमें बहे।
वह पान करि तजकर दुराशा सर्वदा इत—उत रहे॥३६॥

---

१ = विवेक, वैराग्य, शमदमादि षट सम्पति मुमुक्षुता। २ = सुत, वित, लोक।

निर्वैर भाव किये हुए सब भूत ही परिवार हैं।
निज देश है त्रैलोक्य यह, रवि-चन्द्र ही उजियार हैं॥
पितुके सरिस वह धैर्य जननी है क्षमा नित हित-करी।
है शांति-पत्नी रमण-हित वह सत्य-साथी हर घरी॥३७॥

निज वश किया मन-बन्धु है भगिनी-दया जब संगमें।
तब भय रहा किससे अरे! जो तू पड़ा भव-रंगमें॥
तेरे लिये सुख-मय बने सामान पहलेसे सभी।
किस लोभसे रे जीव! तू न विराग करता है अभी॥३८॥

वन बाग उपवनमें कबहुं सरितन समागम पासमें।
प्राकृतिक महिमा ईशकी वह लखत श्वांसोश्वासमें॥
कहुं मुनि-कुटीरोंमें बसे जहँ सर्वसंग्रह त्याज्य है।
मन होत प्रमुदित बार-बार सुबुद्धिका साम्राज्य है॥३९॥

कबहूं समागम-संत-में नित मग्न ब्रह्म-विचारमें।
इस रीतिसे जीवन बिताना है सुखद संसारमें॥
इस सुख सरिस सुख विषयका क्या हो सके जगमें कभी।
आसक्ति-गृह-परतंत्रता अरु अज्ञता तज दे अभी॥४०॥

भवनस्थ-आश्रममें पड़े अविवेकसे दुख सह रहे।
रोमाञ्च होता गातमें उनकी कथाको अब कहे॥
कोई कहत हम जगत रक्षक संत भी हमसे पले।
कोई करत नर तंत्र मंत्र परेत गण जिससे टलें॥४१॥

कुछ पुत्र धन अरु लोकही हित करत तप जप याग हैं।
कुछ क्रोध ईर्षाके विवश हो करत सबका त्याग हैं॥
पण्डित कहानेके लिये कुछ लोग वाद बढ़ावहीं।
निज धर्म तजि परधर्ममें कुछ लोग चित्त लगावहीं॥४२॥

कोई विकल तिय मर गयी कोई विकल तिय है नहीं।
कोई विकल सुत मर गया, कोई विकल सुत-ही नहीं॥
कोई विकल हा ? धन नहीं, कोई विकल धन नष्ट भा।
कोई कहत घर जल गया इस हेतुसे अति कष्ट भा॥४३॥

तन-रोगसे कोई दुखी मन रोगसे कोई दुखी।
नहिं भूख दिन निशि नींद नहिं आती न होते हैं सुखी॥
परिवार तो अति है बढ़ा पै खर्च चलता है नहीं।
नहिं पेट भर भोजन मिले अरु वस्त्र भी मिलता नहीं॥४४॥

बाहर न कोई बात पूछे अन्न घरमें ना रहा।
हा ! क्या करूं ? कितको चलूं ? मन करत चिंता है महा॥
कुछ साधुओंके पास जाकर विघ्न करते भजनमें।
करते अरज हे साधु बाबा ! पुत्र नहिं मम भवनमें॥४५॥

कोई कहत मम धन नहीं, कोई कहत मम तिय नहीं।
जो वे विरक्त रहे न कुछ भी खाक-बाक दिये कहीं॥
निन्दा करत घरको चले यह सन्त अच्छा है नहीं।
है व्यर्थही सब माल चाखत शक्ति इसमें कुछ नहीं॥४६॥

फिर धूर्त-ढोंगी जो रहा वह सन्त तो मनको रुचा।
दे भस्मबूटी भूठही धन हर लिया जो था बचा॥
कारज न भा तब भग गया हा! हा! करत गिरही रहे॥
तबसे न पाते भीख तक जो सन्त अच्छे भी रहे॥४७॥
इस तरह जगमें हो दुखी तिहुँ तापसे नर रो रहे।
कोई कहत ईश्वर कुपित है, दैव-गति कोई कहे॥
कोई कहत ग्रह है चढ़ा, जा ज्योतिषीके पासमें।
ओभा-निकट कुछ प्रेत कहते छूटनेकी आशमें॥४८॥
कोई कहत यह कालका है चक्र, कोई चुप रहे।
कोई गुनत विष खा मरूं, कोई पुकारत नाथ हे!
कोई गुनत जल डूबकर अब प्राणको तज देत हूं।
कोई गुनत मैं प्रेत हूंगा मृत्यु जो खुद लेत हूं॥४९॥
अति वृष्टि है, कहुं वृष्टि नहिं, मूषक लगें कहुं टिड्डियां।
नृप चूसता कहुं शुक लगें, ये छः प्रकार विपत्तियां॥
हैं नित लगी गृह-वासियोंको कर्मके निज त्यागसे।
नित [1]अतिथि-सेवा, [2]हवन, [3]तर्पण-पिंड, [4]जप, [5]बलि-भागसे
अतिथि, सुर अरु पितृ, ईश्वर, जीव होते तृप्त हैं।
तब पुण्य होकर जीव होते पापसे नहिं लिप्त हैं॥
ओखली, चक्की, बुहारू, चूल्ह, जलके थानमें।
नित होति हिंसा पंच-यज्ञ बने इसीके त्रानमें॥५१॥

---

१ मनुष्य-यज्ञ। २ देव-यज्ञ। ३ पितृ यज्ञ। ४ ब्रह्म-यज्ञ। ५ भूत-यज्ञ।

नोट—गृहस्थाश्रमसे ओखली, चक्की इत्यादि द्वारा पांच हत्यायें नित्य प्रति हुआ करती हैं। इन कीट वृत्तिके लिये मनु आदि ऋषियोंने पंचयज्ञ बनाये हैं। इनके न करनेसे ही अतिवृष्टि आदि विपत्तियाँ होती हैं। जिनको अदृश्य पुण्यपर विश्वास नहीं है, उन्हींके लिये पांचों यज्ञोंसे क्रमशः साक्षात फलका कथन किया गया है।

साक्षात जो फल होत है पाठक सुनें उसको यहां।
अतिथि हों विद्वान, त्यागी, संत-जन, आए जहां॥
उपदेश दे सत्मार्गमें प्रेरित करेंगे शीघ्रही।
जिससे सदाचारी हुआ तू शुद्ध होगा शीघ्रही॥५२॥

वह ज्ञानका उपदेश दे माया समूल नशायँगे।
परमार्थ-स्वार्थ बतायँगे, जनकादि शीघ्र बनायँगे॥
सुर, यज्ञसे हो तृप्त करते वृष्टि वसुधा-बीच हैं।
तब अन्न होता, अन्न भक्षणसे बने रज-बीज हैं॥५३॥

प्राणी बने रज-बीजसे फिर अन्न ही खाते हरे!
इस हेतुसे नित हवन करना चाहिये तुझको अरे!
वे तृप्त होकर पितृ भी आशीश शुभ देते अहा!
जिससे मिलें धन-धान्य-सेवक-पशु तथा सम्पति महा॥५४॥

गो-श्वान आदिक तृप्त हो, होते सहायक प्रगट ही।
तेरे लिये "बलि" नित्य करना है अरे! क्या विकट ही!
अध्ययन-जप-तप ध्यानसे होते प्रसन्न जभी विभो।
तब जन्म मृत्यु नशाइ अपना रूप कर लेते विभो॥५५॥

पूर्वोक्त पांचों यज्ञसे इह-लोक अरु पर-लोक भी।
तेरा बनेगा ऐ गृही! होगा अनीह-अशोक भी॥
यह सरल-सुगम उपाय मुनियोंने बनाया है अरे!
तो भी लगी जड़ता तुझे नहिं ध्यान दे इसको करे॥५६॥

जो कृपणता-वश द्रव्यको शुभ काममें न लगायगा।
तो अशुभ कर्मों में सदा लगि द्रव्य नित्य नशायगा॥
जो नाश होनेको रहेगा नाश वह हो जायगा।
नर! अतः कर शुभ कर्ममें तू खर्च शुभ-गति पायगा॥५७॥
सब कह रहे सत-शास्त्र-संत उपाय हित-कारक अरे!
पै ध्यान देता तू नहीं रे मूढ़! माया-वश परे।
अति दुर्दशा पर भी नहीं वैराग्य होता जगतको॥
हरिका शरण गहता नहीं जो शान्तिदायक भगतको॥५८॥
शीतोष्ण आदिक कष्ट सहि अरु भुख-पिपासा त्यागकर।
नाना करत व्यवहार तू नित रातको भी जाग कर॥
पर ध्येय उदर-निमित्त ही तेरा रहा रे जीव-जड़।
गर्भमें किसने दिया भोजन बंधा जहं था जकड़॥५९॥
इस विश्वका पोषण करें जिनका विशम्भर नाम है।
उनपै नहीं विश्वास जो करता उदर-हित काम है॥
इस क्षणिक-नश्वर सुख लिये रे! कष्ट जितना सहत तू।
उस कष्टका कुछ अंश सहि भगवानको जो गहत तू॥६०॥
तो जन्म-जन्मान्तर लिये सुख रूप ही हो जात तू।
शाश्वत-निरञ्जन अमियको पा अमर-ही हो जात तू॥
सब धर्म तजि इक धर्म शरणागत सदा धारण करो।
संतुष्ट करि इस रीतिसे भगवानको, बाधा हरो॥६१॥

यहांसे गृहस्थाश्रमको त्यागकर परमेश्वरका शरणागत रूपी धर्मका कथन है।

अब धर्म-ध्वजियोंकी कथा पाठक पढ़ें चित लाइके।
जो लोक अरु परलोक नाशहिं संत वेश बनाइके॥
मौनी,दिगम्बर मुनि,जटी, खाकी, नगा, अवधूत हैं।
वैष्णव, विरागी, कनफटा, फिरते अलख करतूत हैं॥६२॥

कुछ ब्रह्मचारी हैं बने कुछ और संन्यासी बने।
कंचन रु कामिनि साथमें वेदान्त कथते हैं घने॥
हम वेशकी निन्दा करत नहिं, कर्मको ही कहत हैं।
जो संत सच्चे-वेशधारी तिनहिं शिरसे नमत हैं॥६३॥

कुछ टेशनोंपर दीखते, कुछ अन्न-छेत्रोंमें पड़े।
कुछ हाटमें कुछ वाटमें कुछ घाटहीपर हैं अड़े॥
कुछ ऊँट-गृद्ध समान गर्दनको उठाकर हेरते।
पर नारियोंको देखकर भी तनिक दृष्टि न फेरते॥६४॥

शिर नीच ऊपर पैर करि कुछ वृक्षतर हैं झुल रहे।
कुछ तीर्थ-यज्ञोंके वहाने जगतका धन हर रहे॥
पंचाग्निमें कुछ पड़ रहे कुछ बीच जलमें हैं अड़े।
मेवा मंगाते इष्टसे कुछ बीच वर्षामें खड़े॥६५॥

बहु शिष्य करि कुटिया बना कुछ धरणि माफी लेत हैं।
गृह वासियोंसे भी दुखी हो आयुगत करि देत हैं॥
मारन, वशी, मोहन, उचाटन आदि कोई करत हैं।
कुछ सिद्ध कहलाने लिये बस आगमें झट परत हैं॥६६॥

कुछ नाम-हित तालाव, वावलि, कूपको निर्मित करें।
अरु कुछ पदारथ माँगि झूठहिं ईशको अर्पित करें॥
करते कतहुं धन-हरण-हिंसा करत कुछ कुविचार हैं।
कहुं लात खाते मार अरु कहुं परत कारागार हैं॥६७॥

कहुं पकड़ि बांधत लोग हैं कहुं गालियां वहु देत हैं।
काटत जटा गर्दभ चढ़ा कहुं वेश भी छिन लेत हैं॥
इस दुर्दशापर भी न वंचक ख्याल मनमें लावते।
धिक्कार है, वक ध्यानियो! वैराग्य उर न वढ़ावते॥६८॥

नहिं वेशके अनुसार कुछ भी आचरणका लेश है।
यह जीव सच्चा सुख विना जग भटकता सविशेष है॥
सव जीव सुखकी खोजमें व्याकुल हुए फिरते सदा।
मिलता न सच्चा सुख अहा! हैं तरसते ही सर्वदा॥६९॥

कम्वल भिगे ज्यों-ज्यों हिं त्यों-त्यों और भारी होत है।
तिमि करहिं नित्य उपाय सुखहित दुःखही फल होत है॥
सागर मिले विनु सरित सव क्या थीर हो सकतीं कहीं?
निज रूप व्रह्म मिले विना क्या जीव सुख पाता कहीं॥७०॥

नदियां मिलति जव सिन्धुमें तव नाम-रूप विहात है।
तिमि जीवकी वह व्रह्म पाकर जीवता छुटि जात है॥
कोई उड़ाकर भांग-गांजा नित्य ही धन फूंकते।
खाने विना मरते गृही, ये नित्य उनको लूटते॥७१॥

कुछ स्वाद-हित मद-मांस खाते जीभ-लोलुप हो अरे!
जिस दिन नहीं मिलता विकलता फैलती तनमें हरे!
आसक्ति तो इस तरह है पै आप ज्ञानी मानते।
कुछ विधि-निषेध नहीं मुझे हम ब्रह्मको पहचानते ॥७२॥

इक तरह कथते शुष्क ज्ञान न साधनासे युक्त हैं।
वे जन्म-मृत्यू रोगसे होते न मूरख मुक्त हैं॥
औषधि करे संयम रहित जो रोगसे पीड़ित अती।
दुख और बढ़ता छूटता नहिं रोग तिमि उनकी गती ॥७३॥

संयम सहित जो औषधी सेवन करे चित लाइके।
नर निरुज होता है वही आरोग्यता तन पाइके॥
साधन१ सहित वेदान्तका नित मनन तिमि तुम करहुगे।
नहिं तीन तापोंसे२ दुखी हो जन्म लोगे मरहुगे ॥७४॥

करि शास्त्र—मर्यादा उलंघन फिरत मनमाना अरे!
पशु और तुझमें भेद ही क्या रह गया जगमें हरे!
वैराग्य कर रे भाइयो! अतएव तुम पाखण्डसे।
नहिं सर्वदा रहना यहां दो चित्त जोड़ अखण्डसे ॥ ७५ ॥

१=विवेक, वैराग्य, शम दमादि षट सम्पत्ति और मुमुक्षुता ये ये चार साधन हैं।

२=दैहिक, दैविक और भौतिक—ये तीन ताप हैं।

जनमे हुएकी मृत्यु निश्चय जान लो तुम ऐ सखे!
पुनि मृत्यु सुनि किमि चकित होते कर्म-निज किमिना लखे?
रे मूढ़! क्या भयभीत होते मृत्यु-से तुम सोचु ना।
भय माननेसे क्या तजेगा यम तुम्हे मारे विना॥ ७६॥

जिसका न होता जन्म उसको यम ग्रहण करता नहीं।
अतएव कर उद्योग जिससे जन्म तू पुनि ले नहीं॥
भोजन-वसन जो कुछ मिले वस ताहिमें संतुष्ट हो।
अधिक संग्रह त्याग दे जनि काहु पर तुम रुष्ट हो॥ ७७॥

नर-देह पाने और तजने गेहका जो लाभ है।
उसको उठा सव शेष तज जो और काम अलाभ है॥
इस विराग-सुक्यारिमें जो प्रेमसे मन लायगा।
वह "राम-जन्म"१ विरक्त होकर मोक्ष पदको पायगा॥ ७८॥

१=परमात्मा।

तीसरी क्यारी

ज्ञान

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥*

सादर प्रणाम सरस्वती ! मम कोटिशः स्वीकार हो।
मातेश्वरी ! जगको सृजति-पालति करति संहार हो ॥
रवि-किरणमें जलके सरिस तू ब्रह्ममें रहती सदा।
तू भावनाके सरिस ही जगमें प्रगटती सर्वदा ॥ १ ॥

अम्बे ! अभय-वर-दायिनी-मति-दायिनी-गति-दायिनी।
जन-रंजनी-भव-भञ्जनी-खल-असुर-आदि-निकन्दिनी ॥
माता ! समस्या आज मुझको जटिल आकर है पड़ी।
है लेखनीसे ज्ञान-विषयक लेख लिखना इस घड़ी ॥ २ ॥

बस कर हृदयमें, हो सहायक, सफल मम इच्छा करो।
सब विघ्न-बाधा दूर कर कृतकृत्य मुझको तुम करो ॥
करि कर्मको प्राणी बँधें अरु मुक्त होते ज्ञानते।
अतएव ज्ञानी तत्त्व-विद् नहिं कर्म करते ध्यानते ॥ ३ ॥

---

* निःसन्देह इस जगतमें ज्ञानके सदृश पवित्र दूसरा कुछ नहीं है। कर्मयोग (निष्काम कर्म) के द्वारा अच्छी प्रकारसे शुद्धान्तःकरण हुआ मुमुक्षु पुरुष उस ज्ञानको अपनेमें स्वयं प्राप्त करता है।

नभको पकड़ि जब चर्म सम नर जो लपेट सके कहीं।
उस ब्रह्मको जाने बिना तब मुक्ति हो सकती कहीं॥
तमसे नहीं तम दूर होता, किन्तु होता भास१से।
तैसे अविद्या कर्मसे नहिं दूर, ज्ञान-प्रकाससे॥ ४॥

निज ज्ञानसे निज स्वप्न जाता; अन्यथा जाता नहीं।
तिमि आत्मके ही ज्ञानसे परपञ्च२-लय श्रुति कह रही॥
उस ब्रह्मको ही जानकर नर अमरता पाता सही।
नहिं दूसरा है मार्ग इससे जीव-हित श्रुति कह रही॥ ५॥

फल सहित कर्म सभी विलय हो जात हैं उस ज्ञानमें।
उस ज्ञान सम नहिं दूसरा साक्षात है भव-त्रानमें॥
होता जबै चहुं ओरसे प्लावित सुनीर सुहावना।
तब कूप, सरि, सर, सलिलकी रहती नहीं कुछ कामना॥ ६॥

चहुं ओरसे तिमि ब्रह्म हीको प्राप्त ब्राह्मण३ने किया।
तब कर्म मय सब वेदका बस त्यागही वह कर दिया॥
सब कर्म होते दग्ध हैं जब अग्नि बलता ज्ञानका।
ज्ञानी सदा प्रिय आतमा माना गया भगवानका॥ ७॥

निष्काम कर्म किये बिना नहिं ज्ञान होता प्राप्त है।
अतएव करता कर्मको ही वह पुरुष जो आप्त है॥
जब कर्म करि भा शुद्ध मन तब उर विवेक बढ़ावता।
बहिरंग-साधन कर्म छूटे वृक्ष ज्यों फल त्यागता॥ ८॥

१=प्रकाश। २=जगत। ३=ब्रह्मको जाननेवाला।

वैराग्य, २ सम-दम आदि सम्पति३ पट, मुकुति४-इच्छा किये।
फिर करि श्रवण अरु मनन, निदिध्यासन किया क्रमशः हिये॥
तत्त्वं विचार किया पुनः तब वृत्ति ब्रह्म अकारकी।
होकर हुई लय, साधना छुटि जात आठ प्रकारकी॥ ९॥
तजि बाह्य अन्तर साधना नित मग्न परमानन्दमें।
जीवन मुकुत हो विचरता निर्विघ्नसे निर्द्वन्दमें॥
जिमि लोह-पिंड-सु-तप्त करसे आप ही छुटि जात है।
तिमि ज्ञान होनेपर स्वयं सब कर्महीं छुटि जात है॥ १०॥
फिर ज्ञान होनेपर नहीं कहना पड़े तज दो करम्।
बिनु ज्ञानके जो कर्म तजता हृदयमें छाता भरम्॥
फल दुःखही होता उसे, नहिं हाथ लगता सार है।
अतएव साधनमें लगे रहना सदा दरकार है॥ ११॥
हैं "कर्म योग" रु "सांख्य योग" सु-मार्ग दो जगमें बने।
अज्ञानियों अरु ज्ञानियोंका क्रमसहित दोऊ भने॥
फलके सफलता-विफलतामें चित्त जो सम होत है।
बस योग कहते हैं उसीको भाग्यसे वह होत है॥ १२॥
उस योगसे जो युक्त होकर कर्मका पालन करे।
वह "कर्मयोगी" है कहाता कर्म उसका अघ हरे॥
अघ दूर हो, चित शुद्ध हो, जब ईशमें लगने लगा।
"है वासुदेव सभी जगत" इस ध्यानमें रंगने लगा॥१३॥

१=साधन पहला। २=साधन दूसरा। ३=साधन तीसरा।
४=साधन चौथा।

तब सांख्ययोगी हो गया वह कर्मयोग तजा सभी।
बस हो गया वह "ब्रह्मविद्" दृढ़ ज्ञान योग हुआ जभी ॥
नर कर्मयोग किया रहे जो पूर्ण उस गत जन्ममें।
वह कर्म-विनु आरूढ़ होता ज्ञानमें पर-जन्ममें ॥१४॥

बस संसकार किये विना हीं बाल-काल विरक्तता।
आती उसे विनु गुरु किये अति ज्ञान उरमें सरसता ॥
अवधूत हो शुक-जड़ भरत,आदिक सरिस हो विचरता।
जो कर्मयोग अपूर्ण कुछ गत जन्ममें है ठहरता ॥ १५ ॥

तो पूर्ण करि वह ब्रह्मचर्यहिमें उसे फिर भावसे।
फिर वह प्रवेश सु-सांख्य निष्ठामें करत सद्भावसे ॥
उस आतमाकी खोजमें खुद आतमाहीं खो गया।
उस आतमामें आतमा मिलि आतमाहीं हो गया ॥ १६ ॥

उस आतमाको आतमा लखि आतमाहीं मानता।
उस आतमासे आतमाको है पृथक नहिं जानता ॥
निज आतमाको सौंपता फिर आतमाहींके लिये।
निज आतमाको आतमासे रोकता आतम लिये ॥ १७ ॥

उस आतमासे आतमाको आतमा फैला रहा।
वह आतमा जाने विना है आतमा मैला महा ॥
उस आतमासे आतमा तजि आतमा ही शेष है।
जो आतमा तजि और ध्यावे भटकता सविशेष है ॥ १८ ॥

वह आतमाहीं आदिमें अरु आतमा ही अन्तमें।
है आतमाहीं निकटमें फिर आतमाहिं दुरन्तमें ॥
है आतमामें जगत कल्पित सर्प जिमि रज्जू विषे।
जो आतमामें वस्तु कल्पित आतमा जानो तिसे ॥ १९ ॥

इन्द्रिय विकार दिखा रहा यह जगत आतममें सही।
जिमि रजत सीपीमें भरम वस देखती है यह मही ॥
आतम दिखे चहुं ओर है आतम सुने चहुं ओर है।
वह आतमाहीं जान लो मनका जहां लगि दौर है ॥२०॥

है सूंघता आतम श्रवण भी आतमा करता सुनो।
अरु पर्श भी आतम करे रस आतमाहीको गुनो ॥
नित ग्रहण करता आतमा फिर गमन करता आतमा।
अरु त्याग करता आतमा आनन्द करता आतमा ॥२१॥

नित बोलता है आतमा, हंकार करता आतमा।
चिन्ता करत है आतमा, निर्णय करत फिर आतमा ॥
घट-जल उपाधीसे घिरा जिमि भानु बिम्ब दिखात है।
थिर, डोलता, चलता, हरित, सित, पीत आदि लखात है॥२२॥

मन इन्द्रियोंके योगसे तिमि आतमामें है क्रिया।
अध्यास करके आपमें कहता अरे! मैंने किया ॥
हैं नेत्र देखे रूपको मैं आतमा उनसे जुदा।
मैं आतमा थिर रहत हूं मन दौड़ करता है सदा ॥२३॥

वह सूंघती है गन्ध नासा, श्रवण शब्द सुनें सदा।
छूती त्वचा नित वस्तुको, रस जीभ लेती है सदा ॥
नित ग्रहण करते हाथ हैं अरु पांव करते गमन हैं।
नित त्याग करती है गुदा आनन्द भोगत शिश्न हैं ॥२४॥

हँकार करता है अहं, चिन्ता करत चित जानिये।
निर्णय करति बुद्धी सदा, आतम पृथक पहिचानिये ॥
नित शब्द बोलत वाक है, मैं आतमा इससे परे।
मुझमें न इन्द्रिय प्राण है, मन आदिसे भी हूं परे ॥२५॥

है शब्द, रस, अरु, पर्श, रूप न गन्ध आतममें कभी।
नभ आप वायू ज्योति धरणी तत्वके ये गुण सभी ॥
है आतमा पूरण महा, है आतमा अविचल महा।
यह शुद्ध है, यह बुद्ध है, यह मुक्त है, अविकल अहा ॥२६॥

आश्चर्य-सा कोई लखे आश्चर्य-सा कोई सुने।
आश्चर्य-सा कोई कहे आश्चर्य-सा कोई गुने ॥
नर कथन कर, लखकर, श्रवण करके नहीं फिर जानते।
आश्चर्य है! आश्चर्य है! आश्चर्य! जो पहचानते ॥२७॥

मैं आतमा आनन्द हूं, आनन्द हूं, आनन्द हूं।
निरद्वन्द हूं, निरद्वन्द हूं, निरद्वन्द हूं, निरद्वन्द हूं ॥
सब भूतका अवकाश हूं, अवकाश हूं, अवकाश हूं।
परकाश हूं, परकाश हूं, परकाश हूं, परकाश हूं ॥२८॥

निर्गुण, निरंजन, मुक्त, शाश्वत, निर्विकार, अचिन्त्य हूं।
मैं सत्य हूं, मैं सत्य हूं, मैं सत्य हूं मैं सत्य हूं॥
ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, अन्तःकरण अरु प्रान ये।
उन्नीस तत्त्वोंसे बनी यह "सूक्ष्म देह" बखानिये॥२६॥
मल, मांस, मज्जा, रुधिर अरु जो अस्थि-चर्म दिखात है।
रज-वीजहीसे है बना यह "थूल देह" कहात है॥
सुख,दुःख, संशय, शोक, मोह रु कामना, भय, लाज भी।
पुनि धीरता रु अधीरता श्रद्धा-अश्रद्धा काज भी॥३०॥
मनके सकल ये धर्म हैं, मनसे पृथक मैं सर्वदा।
भुख-प्यास भी हैं प्राणके, मैं प्राण हूं नहिं सर्वदा॥
ये श्याम-गौर रु थूलता, कृश, वर्ण-आश्रम, थूलके।
पुनि नाश-उत्पति थूलको मैं थूल हूं नहिं भूलके॥३१॥
तन सूक्ष्म भटके योनियोंमें सूक्ष्मसे भी मैं परे।
यह है अविद्या-काज जग, मैं हूं अविद्यासे परे॥
तन थूलका है सूक्ष्म कारण, सूक्ष्मका अविवेक१ जो।
अविवेक कल्पित है सदा मुझ आतमामें एक जो॥३२॥
कल्पित पदार्थ अधारसे क्या भिन्न होते हैं कहीं?
तरु ठूंठमें सच्चा पुरुष क्या उपज सकता है कहीं?
इस रीतिसे मुझसे विलग क्या हो सके जग है कहीं?
मुझ एक ही अद्वैतमें कल्पित पदारथ हैं नहीं॥३३॥

१=कारण शरीर।

जब दूसरा नहिं रह गया तो भय करे किससे कहां ?
वे राग-द्वेष रु शोक-मोह मदादि टिक सकते कहां ?
मम हृदयकी अविवेक-ग्रन्थी हो गई जब नष्ट है।
यह गात छूटे या रहे न जरा भी मुझको कष्ट है ॥३४॥

कुछ भी न पढ़ना शेष है, कुछ भी न करना शेष है।
प्रारब्ध-भोग निमित्त ही अविवेकका अब लेश है॥
अविवेकके लवलेशसे परतीत होता जग अहा!
पर ज्ञानके बलसे सदा नहिं सत्य-सा अब है रहा ॥३५॥

संचित रहे कुछ भी नहीं सब ज्ञानसे दग्धित हुए।
अब रह गये केवल हमीं मम पाप-पुण्य नहीं छुए॥
प्रारब्ध भोग-निमित्त ही अंतःकरण दरशात है।
मिथ्या प्रतीती जगतकी, जो थूल देह दिखात है ॥३६॥

अन्तःकरण, प्रारब्ध, भी ये नष्ट होंगे साथ ही।
इन चार के मीटे, मिटे उत्पति-मरण दुख-गाथ ही॥
प्रारब्ध भी मेरी नहीं, अन्तःकरणका भोग है।
अन्तःकरणसे आतमाका होत कल्पित योग है ॥३७॥

प्रारब्ध-गत की करि प्रतीक्षा जगत में विचरूं भले।
नहिं क्लेश है रंचक मुझे नहिं वृत्ति आतमसे टले॥
इक वाल भी न समा सके जिमि कंठ नाड़ी मध्यमें।
पै, सब उसीमें सृष्टि होती है अवस्था स्वप्नमें ॥३८॥

छिन मात्रमें चिरकालके दिखते पदार्थ अनेक हैं।
देश-कालादिक रहित यह शुद्ध चेतन एक है॥
जब देश-काल रहे नहीं तब जगत सत्य कहां रहा।
पै, भासता है सत्य-सा अविवेकसे अद्भुत महा ॥३९॥

साधन चतुष्टय युक्त हो करि वृत्ति ब्रह्माकार जो।
वेदान्तके सिद्धान्त-सार यथार्थ जाननहार जो॥
विश्वास-श्रद्धाके सहित ऐसे गुरुके पासमें।
कब त्रिविध-तापोंसे रहित हूंगा इसीकी आशमें ॥४०॥

जा करि विनम्र-प्रणाम-सेवा आदिसे सन्तुष्टता।
छल तजि करे कोमल गिरासे प्रश्न तजिके धृष्टता॥
मैं कौन हूं? क्या कर्म है? ईश्वर कहत किसको प्रभो!
माया कौन? वह ब्रह्म क्या? बन्धन-मुकुति क्या है विभो ॥४१॥

मम नित्य सुख कब प्राप्त होगा हे गुरो! मुझसे कहो।
वे शान्त, दान्त, समानदर्शी, तत्त्वविद्, मुझसे अहो!
अनुकूल हो भाषण करहिंगे ज्ञान, माया-हरण जो।
पुनि शोक-मोह नशायँगे सब, हेतु-उत्पति-मरण जो ॥४२॥

है मोक्ष कारण मन सदा अरु हेतु मनहीं बन्धका।
निर्विषय मन, मुक्ती करे, बन्धन विषय-सम्बन्धका॥
बहु कामनाओंमें फँसा मनहीं दिखात अपार है।
मनहीं रचे यह जगत है, मनहीं करे व्यवहार है ॥४३॥

विधि-लोक,सुर-पुर,नाग-पुर, गंधव-पुर शशि-लोक जो।
नर-लोक, किन्नर, पितर-लोक रु यक्ष-पुर-आलोक जो॥
सबही रचे मनहीं, न रंचक सार है इनमें अरे!
दक्षिण अयन—उत्तर अयन भी कल्पना मनहीं करे॥४४॥

नारी-पुरुष अरु क्लैब्य भी मनहीं रचे, बस जानिये।
दिक, काल, देशादिक, जगत बस है सभी मन मानिये॥
झट ज्ञान-असिसे काट कर मनका प्रपञ्च नशाइये।
होंगे सुखी निज आतममें दृढ़ चित्त वृत्ति लगाइये॥४५॥

हैं इन्द्रियां तनसे परे अरु इन्द्रियोंसे मन परे।
बुधि है परे मनसे सदा अरु बुद्धिसे आतम परे॥
है आतमा तूहीं अरे! तेरे अधीन रहे बुधी।
बुधिके अधीन रहे सदा मन, क्या तुझे नहिं है सुधी॥४६॥

मनके वशी सब इन्द्रियां रह कर घुमाती गात हैं।
इस रीतिसे तू श्रेष्ठ सबसे सर्वपर आघात है॥
कर ले हरे! सबको वशी निज रूपको पहिचानिके।
होगा तभी बिनु कामका मन स्वच्छ शासन मानिके॥४७॥

मत डर, तनिक होगी विजय तेरी समर-थल-कायमें।
उत्साह कर, पुरुषार्थ कर, चूको न तनिक उपायमें॥
मन्त्री विचार, शमादि सेना, शस्त्र ज्ञान—विरागके।
लेकर चढ़ो, तुम काम जीतो, सहित ईर्षा-रागके॥४८॥

मन काम जैसा होत है निश्चय सरिस तस जानिये।
यह पुरुष निश्चयके सरिस है कर्म करता मानिये॥
फिर कर्म-फल अनुसार ही है जन्म लेता योनिमें।
फल भोग कर तन छूट जाता फिर जनमता छोनि[1]में ॥४९॥

बस, इस तरह संसृति-भँवर[2] में है फसाता कामहीं।
नर! जीत ले तू कामको मनसे मिटा दे नामहीं॥
यह दुष्ट पेटू काम-रिपु संकल्पसे उपजायगा।
संकल्पको तज दे तभी यह काम भी मिट जायगा ॥५०॥

शुभ कर्मका फल स्वर्ग है, फल ब्रह्म-लोक उपासना।
पर, शुद्ध अन्तःकरण होता जो करे विनु कामना॥
सब माहिं व्यापक है सही तव आतमा नित-विनु दुखी।
तव रूप आनँद-अब्धि-कणते लोक जब सबही सुखी॥५१॥

सुख-रूप-सत-चित-रूप होनेसे नहीं कुछ कामना।
तब क्षणिक-नश्वर लोक-हित किमि करै कर्म-उपासना॥
अन्तःकरण जब शुद्ध होकर ज्ञान भी तुझको हुआ।
किस लोभसे नित कर्ममें है व्यस्त तू इतना हुआ ॥५२॥

दृढ़ ज्ञान होने पर यदपि कुछ कर्म-बंध करे नहीं।
पै, कर्म करि जीवन मुकुति सुख भोग क्या सकता कहीं?
उन ज्ञानियोंका कर्महीं अन्तःकरणका सुख हरे।
व्यवहारसे उपरामताही हृदय सुख वर्द्धित करे॥५३॥

१—पृथ्वी। २—जन्म-मरणरूपी चक्कर।

"अति न्यून दुख छिनमात्रमें शुभ देश अरु शुभ कालमें।
तन को तजा इस जीवने मुक्ती मिली तत्कालमें"॥
बहु मूढ़ जन ऐसा कहें जिनको न कुछ भी ज्ञान है।
पै, मरण-उत्पतिसे न होता मुक्त वह अनजान१ है॥५४॥
निज वासना अनुसार उसका जन्म होता है सही।
पर, ज्ञानियोंका जन्म नहिं फिर होत है श्रुति कह रही॥
वे श्वपचके गृह, मगहमें या मूत्र-मलके थानमें।
पंचक२-समय,शशि-रवि-ग्रहण,सूर्यास्त,दक्षिण३ भानमें॥५५॥
प्रेतिक४ क्रियासे रहित तन वन,श्वान,जम्बुक खात हों।
तन कुष्ट-व्रण५-युत सन्निपात६ प्रयाण७ में चिल्लात हों॥
तो भी जनमते हैं नहीं ज्ञानी सदा ही मुक्त हैं।
कारण, सदा सम्यक् तरहसे आतमासे युक्त हैं॥५६॥
कुछ अशुभ देश रु कालमें तन-त्यागसे दुर्गति नहीं।
शुभ देश-काल रु शांतिमें नहिं स्वर्गकी प्राप्ती कहीं॥
जिस-किस तरह तन त्याग हो वे ब्रह्ममें-ही हैं सदा।
कुछ विधि-निषेध न ज्ञानियोंको मस्त रहते सर्वदा॥५७॥
ये देश, काल रु लोक जिनकी दृष्टिमें नहिं सर्वथा।
उन ब्रह्म-भूत अमानियोंकी तात! क्या कहनी कथा॥
सुर गुरु प्रजापति वेद ज्ञाता आदि जो अस्तुति करें।
या शूद्र, श्वपच, किरात आदिक श्वानवत् गति नित करें॥५८॥

१—अज्ञानी। २—धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्रपद, उत्तरभाद्रपद और रेवती, ये नक्षत्र। ३—दक्षिणायन सूर्य। ४—श्राद्ध-तर्पण। ५—घाव। ६—त्रिदोष। ७—मृत्यु-काल।

कुछ हर्ष-शोक न ज्ञानियोंको लाज अरु भय भी नहीं।
वे पृथक मानत देहसे हैं आपको आतम कहीं॥
जब आतमा सबका हुए तब कौन दुख-सुख देत हैं।
अनुकूल मानहिं देहको ये देहके सुख हेत हैं॥५९॥
प्रतिकूल भासे देह तो वे देहको दुख देत हैं।
जब मैं नहीं हूं देह तो मम दुःख-सुख नहिं होत हैं॥
जो सर्वदा इस भावनामें मस्त रहता सन्त है।
उस संतका नहिं आदि है, नहिं मध्य है, नहिं अन्त है॥
रस ग्रहण कर लेता न रस, लखकर नहीं लखता कभी।
सुनता न सुन करके कभी, नहिं सूंघकर सुंघता कभी॥६०॥
छूकर नहीं छूता कभी, खाकर नहीं खाता कभी।
चलकर नहीं चलता कभी, लेकर नहीं लेता कभी॥
तजकर नहीं तजता कभी, करि ज्ञात नहिं ज्ञाता कभी।
करि चिन्तना चिन्ता नहीं, हङ्कार करि नहिं है कभी॥६१॥
सङ्कल्प करि नहिं कामना, ले श्वास नहिं लेता कभी।
सोकर नहीं सोता कभी, जगकर नहीं जगता कभी॥
आकर नहीं आता कभी, नहिं डोलकर भी डोलता।
पलकें गिराकर नहिं गिराता, खोलकर नहिं खोलता॥६२॥
ले जन्म नहिं वह जन्मता, मरकर नहीं मरता कभी।
जपकर नहीं जपता कभी, पढ़कर नहीं पढ़ता कभी॥
तपकर नहीं तपता कभी, दे दान नहिं देता कभी।
करि याग नहिं करता कभी, धरि ध्यान नहिं ध्याता कभी॥६३॥

करि भक्ति भक्त नहीं कभी, करि योग नहिं योगी कभी।
करि कर्म नहिं कर्मी कभी, करि राग नहिं रागी कभी ॥
करि नेम नहिं नियमी कभी, हो मौन नहिं मौनी कभी।
संयम करत नहिं संयमी, करि भवन नहिं भौनी कभी ॥६४॥

वह मारकर नहिं मारता, नहिं तारकर भी तारता।
वह जीतकर नहिं जीतता, नहिं हारकर भी हारता ॥
करि राग नहिं अनुरागता, नहिं भोगकर भी भोगता।
कबहूं दिखत रोगी सरिस, कबहूं प्रगट आरोग्यता ॥६५॥

कबहूं शयन धरणी करे, कबहूं सजित शय्या परे।
कबहूं दिखे परसन्न चित, कबहूं उदास वदन करे ॥
कबहूं हंसे कल-कंठसे, कबहूं रुदन शिशु सों करे।
कबहूं नृपति सों वस्त्र-भूषण धारि कबहूं परिहरे ॥६६॥

कबहूं चले अति जोरसे कबहूं अचल आसन करे।
कबहूं वचन पागल सरिस कबहूं पठित सम उच्चरे ॥
कबहूं सुरूप कुरूप कबहूं दिखति वृत्ति पिशाचवत्।
कबहूं सु-सिद्ध-सुजान, समदर्शी महामुनि शांसवत् ॥६७॥

कबहूं अशन जल-शाक कबहूं खात षट्-रस अन्नको।
कहुं ज्ञान सीखत देत है उपदेश कहुं पर[1]पन्नको ॥
यात्रा करत कहुं औरको कहुं और ही चलि जात है।
करता और कहता और वह काहुसे न लखात है ॥६८॥

---

१ शरणागत।

मन और-ही चेष्टा और कुछ और ही नर जानहीं।
यह सन्त, सुर, नर, दैत्य है या प्रेत है अनुमानहीं ॥
बस इस तरह जीवन-मुकुत, सुख-रूप हो विचरत मही।
प्रारब्ध-गत करि देह-तजि होता विदेह मुकुत वही ॥६९॥

फिर प्राण उसका गमन नहिं करता है लोकोंको कहीं।
आधार जो है ब्रह्म उसमें शांत होता है वहीं ॥
बस, इस तरह गमनागमनसे रहित ज्ञानी होत है।
भव-अब्धि तरनेके लिये वह ज्ञान ही इक पोत है ॥७०॥

प्राणी हुए सब अन्नसे अरु अन्न औषधिसे हुआ।
औषधि हुई सब भूमिसे, भू-पिण्ड भी जलसे हुआ ॥
जल अग्निसे, पावक पवनसे, पवन भी नभ–हेतुसे।
नभ सगुण मायासे हुआ अरु सगुण माया२ हेतुसे ॥७१॥

वह हेतु-माया ब्रह्ममें है तोय जिमि रवि किरनमें।
नहिं कार्य कारणसे पृथक लय कार्य-कारण करनमें ॥
जो ब्रह्म ही इक शेष रहता हूं, वही मैं सर्वदा।
फिर रहत भेद न"मैं""वही"का मनन दृढ़ नित हो यदा ॥७२

यह देह व्यापक जीव है ब्रह्माण्ड-व्यापक शीव है।
यह देह अरु ब्रह्माण्ड तजि नहिं जीव है, नहिं शीव है ॥
यह जीव ईश्वर-अंश है अरु देह माया-अंश है।
जब देह मायामें मिलत तब जीवताका ध्वंस है ॥७३॥

२ कारण-माया।

अध्यास जब तनका करे तब जीवता नित प्राप्त है।
अध्यास तनका त्यागकर फिर ईशता सरसात है॥
माया-जनित सर्वज्ञता अरु सर्व-द्रष्टा आदि जो।
माया तजे सब ही मिटे, रह शेष आप अनादि जो॥७४॥

मठमें रखा घट तोड़नेसे नाश घट नभ होइके।
फिर मिलत मठ-आकाशमें मठ तोड़िये तब खोइके॥
निज नाम, मठ-आकाश मिलकर होत बृहदाकाश है।
यह जीव घट-नभ, ईश मठ-नभ ब्रह्म बृहदाकाश है॥७५॥

तन अरु अविद्या एक रूपक ताहिको घट मानिये।
ब्रह्माण्ड माया एक रूपक ताहिको मठ जानिये॥
जब जीव ईश्वर मिट गये तब द्वैत कुछ भी ना रहा।
सगुण-अगुण सत-असत, व्यक्त-अव्यक्त छरअक्षर महा॥७६॥

सब ही मिले कल्पित-अकल्पित एक ही चेतन रहा।
किसका सुने किससे कहे कुछ भी नहीं जाता कहा॥
किसको दिखे, किससे लखे, तब कौन वेत्ता वेद्य है?
मन-बुद्धि-गोचर है नहीं वह एक स्वसंवेद्य[1] है॥७७॥

घटसे प्रथम मिट्टी रही घट-कालमें मिट्टी वही।
घट-नाश होनेपर वही इक मृत्तिका ही बच रही॥
जब आदि मध्यम अंत तीनों कालमें है मृत्तिका।
घट क्यों कहें, समझें, उसे हम क्यों कहें नहिं मृत्तिका॥७८॥

१=अपनेहीसे अपने जानने योग्य।

तिमि ब्रह्म पहले था, जगतके अंतमें रह जायगा।
अरु मध्यमें भी है बना ज्ञानी समझ यह पायगा॥
जो तीन काल रहा पदारथ सत्य है वह क्यों नहीं?
विचमें प्रतीती मात्रसे जग सत्य हो सकता कहीं? ७६॥
जिमि स्वच्छ-निर्मल गगनमें बहु मेघ छिनमें देखिये।
काले, पिले, नीले, हरित, सित, धूम्र, वर्ण सु-पेखिये॥
कुछ गृह सरिस कुछ पशु सरिस, मानुष सरिस वन-वाटिका।
आदिक दिखें चहुं ओरको छिन बढ़हिं छिनमें घाटिका१॥८०॥
वायू प्रचण्ड चला जबहिं तब यत्र-तत्र मिटे घना।
आकाश ज्यों-का-त्यों रहा उसका न कुछ विगड़ा-बना॥
तिमि निर्विकार सदा निरञ्जन ब्रह्ममें माया रचे।
तम, रज, सतोगुण, श्याम, रक्त, सपेदसे सब जग खचे॥ ८१॥
प्रज्ञा- प्रथम रचि बुद्धिसे हंकार फिर विषया३ बने।
पांचों विषयसे तत्त्व पांचों४ फिर सुनो जो थे बने॥
हंकारसे कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां मन भी हुआ।
हंकारके तमसे रचित सह-भूत५ मात्रा६ गण७ हुआ॥८२॥
सतसे रचित मन आदि इन्द्रिय हो गये ग्यारह वहां
मिलि इन्द्रियां ग्यारह रु पांचों तत्त्व ये षोड़श यहां॥
कहते "विकार" इनहिं न इनसे और था कुछ भी बना।
हंकार-बुधि, शब्दादि-मात्रा पांच, ये जो हैं घना॥ ८३॥

१=घटते हैं। २=बुद्धि। ३=शब्दादि। ४=आकाशादि। ५=पांच तत्त्वोंके सहित। ६=शब्दादि। ७=समूह।

इनको "प्रकृति अरु विकृति" कहते क्योंकि कारण-कार्य हैं।
अरु मूल मायाको "प्रकृति" नित भनत सांख्याचार्य हैं॥
वह प्रकृति अरु विकृति रहित जो "पुरुष" उसको जानिये।
सिद्धान्तमें उस पुरुषको ही "एक अद्वय" मानिये॥ ८४॥
उस एक अद्वय ब्रह्ममें जग इस तरह माया करी।
त्रैलोक, चौदह भुवन-विच नर, कीट, पशु, सुर भी करी॥
खग, पितृ, किन्नर, यक्ष, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र वने सभी।
मरते-जनमते हैं कभी अध उर्द्ध जाते हैं कभी॥ ८५॥
जिमि सरित-विच परि मत्स्य करता गमन तट-दोनों तरफ।
तिमि जीव गति जग कर्म द्वारा उर्द्ध-नीचे की तरफ॥
इत्यादि दृश्य दिखा रही जग-चारि*-खानि सुहावना।
पर ज्ञान-मारुतके चलत यह दृश्य सब मीटत घना॥ ८६॥
विगड़ा-वना जग, कुछ नहीं उस आतमाकी छति हुई।
सृष्टी अविद्यासे वनी थी ज्ञानसे लय हो गयी॥
जिमि स्वप्नमें वहु सृष्टि दीखति जागतेपर कुछ नहीं।
तिमि मोह-रूपी नींदमें है सृष्टि; मोह गये नहीं॥ ८७॥
नहिं पाप-पुण्य, दिवस-निशा नहिं सरित-सागर अव रहे।
रवि-चन्द्र, गिरि-तरु, देव-दानव, दैत्य-नर सवही १वहें॥
नहिं जन्म-मृत्यु रहा नहीं सुख—दुःख रागरु द्वेष है।
वँध-मोक्ष २अग-जग३ कुछ नहीं अव भ्रांतिका नहिं लेश है॥८८॥

---

*=अण्डज, पिंडज, उष्मज और स्थावर।
१=नष्ट हो गये। २=स्थावर। ३=जंगम।

व्यवहारकी जिमि सिद्धि हो अतएव घट, पट, कह रहे ।
जब सत्य नहिं जग रह गया, हैं झूठ सब घट, पट कहे ॥
अस समझि ज्ञानी जन महा मुनि मौन ही बस रहत हैं ।
जग-नाम-रूप विहाइके प्रिय-अस्ति-भात-हिं गहत हैं ॥८६॥

जो नाम–रूप दिखा रहा जड़ता उसे नित प्राप्त है ।
जो वस्तु जड़ वह एक देशी साक्ष्य दृश्य, अनात्म है ॥
इससे पृथक चेतन सदा वे सर्व देशी जानिये ।
साक्षी वही, द्रष्टा वही, ज्ञाता वही, पहचानिये ॥६०॥

ज्ञाता सदाही ज्ञेयसे रहता पृथक यह नेम है ।
इस रीतिसे निज आतमा सबसे पृथक खुद प्रेम है ॥
यह क्योंकि मन जाता कहीं अरु लौटकर आता यदा ।
दुःखी-सुखी भी होत जब यह आतमा जानत सदा ॥६१॥

अतएव मनसे पृथक है यह आतमा तिहुं कालमें ।
शुचि बुद्धि और कुबुद्धिको भी जानता ततकालमें ॥
चित करत है चिन्ता और हंकार जब है हंकरे ।
होता अभाव यदा युगल१ का आतमा तब अनुहरे२ ॥६२॥

अतएव चित-हंकारसे भी आतमा यह है अलग ।
यह प्रान जब भुख-प्याससे हो युक्त अरु होता विलग ॥
तोभी सदा यह जानता है अतः है इससे जुदा ।
श्रोत्रादि३ करते श्रवण आदि, न फिर कभी करते यदा ॥६३॥

१=चिन्ता तथा अहंकार । २=जानता है । ३=ज्ञानेन्द्रियां ।

पग१ आदि करते गमन आदि न फिर कभी करते जभी।
यह आतमा ज्ञाता सदा, नहिं इन्द्रियां अतएव भी ॥
बालक-समयके कार्यको यौवन-समय भी जानता।
शिशु-तरुणके सब कार्यको बूढ़े समय भी जानता ॥६४॥
जिस समय जो कारज किया वह गात तो नहिं रह गया।
फिर ज्ञात किसने कर लिया? उस आतमाहीने किया ॥
बालक, युवापन, वृद्धपनसे अतः यह आतम परे।
द्रष्टा यही, साक्षी यही, ज्ञाता यही है तू अरे ॥६५॥
है पांच२ भूतोंका शरीर. न है तुम्हारा यह कभी।
अति कष्ट तबसे सहत, अपना मान लीन्हा तू जभी ॥
जग एक भूत लगे जिसे वह कष्ट अति अनुभव करे।
तूने चढ़ाया शीश निज है पांच भूतोंको अरे! ॥६६॥
अतएव जितना कष्ट हो मैं अल्प ही हूं मानता।
अध्यास३ जो इनका तजे वह असल४ सुखको जानता ॥
अध्यास इनका तज अतः निज रूपको पहचान ले।
होगा सुखी निश्चय वचन मम ऐ सखे! तू मान ले ॥६७॥
जन्मत, प्रतीती होति. पुनि बढ़कर, तरुण हो जात है।
फिर क्षीण होकर नाश होता, जो पदार्थ अनात्म है ॥
पै, आतमा इन षट विकारोंसे रहित यह, मर्म५ है।
कामोपभोग निमित्त ही दिन-प्रति करे जो कर्म है ॥६८॥

१=कर्मेन्द्रियां। २=पृथ्वी,जल,अग्नि,वायु और आकाश। ३=दूसरेके धर्मको दूसरेमें देखना। ४=आत्म-सुख। ५=भेद, आत्म और अनात्ममें।

बस, जन्म लेता है वही निज-कर्म-फल-पाने लिये।
आतम अनीह१ सदा अकर्ता नाहिं जन्मत इसलिये ॥
जड़-व्यक्त२ की होती प्रतीती, इन्द्रियों-मनसे सदा।
चैतन्य अरु अव्यक्त३ आतमकी प्रतीति न सर्वदा ॥९९॥
बढ़ता वही जो जन्म लेता, आतमा बढ़ता नहीं।
बढ़ता नहीं जब आतमा तब तरुण हो कैसे कहीं?
जो अवयवी४, वह क्षीण होता, आतमा अवयव५ रहित।
अतएव होता क्षीण नहिं, यह लखहिं जन साधनसहित ॥१००॥
जो एक देशी, जन्मवाला, नाश उसका है सही।
यह सर्व देशी, सत्य, व्यापक आतमा नशता नहीं ॥
बस, जन्मकी परतीति है, परतीतिकी ही वृद्धि है।
है वृद्धिकी ही तरुणता, छिणता युवाकी सिद्धि है ॥१०१॥
है क्षीण होता जो पदारथ नष्ट वह हो जात है।
यह सब विकारोंसे रहित, अज, आतमा कहलात है ॥
पै, मूढ़ मायामें पड़े उलटा लखहिं भ्रमसे सदा।
आरूढ़ नौकापर हुए जिमि तरु दिखें चलते सदा ॥१०२॥
दूरस्थसे तारे दिखाते हैं अचल पै वे सचल।
तिमि देहका अध्यास करके आतमाहींको सचल ॥
कहते विकारी अरु सक्रिय, अरु कर्म तजि जब बैठते।
कहते अक्रिय अब हो गये सुख-सिन्धुमें हम पैठते ॥१०३॥

१=इच्छा रहित। २=प्रकट। ३=अप्रगट, जो मन तथा इन्द्रियोंसे न जाना जाय। ४=अंगोंवाला। ५=अंग।

जिमि लोह-पिण्ड सु तप्त दाहक शक्तिवाला होत है।
करिके तदात्म्य सम्बन्ध पावकसे, अरुण भी होत है॥
अरु अग्नि दीर्घ अकारका पुनि होत भारी है अहा!
नहिं लोहमें है शक्ति दाहक रक्तता भी है कहां?॥१०४॥

नहिं अग्नि दीर्घ अकारका नहिं तौलमें भारी कभी।
पै, दीखने लगता तदात्म्य सम्बन्ध छिनमें भा जभी॥
तिमि प्रकृतिमें चैतन्यता नहिं आतममें सुख-दुख सभी॥१०५॥
है प्रकृतिमें ही योगसे उन आतममें सुखदुख नहिं
अरु प्रकृतिमें चैतन्यता है आतमाके योगसे।
जड़-प्रकृति अरु चैतन्य आतमके परस्पर योगसे॥
वांचित्रताका उदय तो बस, इस तरहसे होत है।
जिमि दूधमें घृत रहत है, अरु दूध जब दधि होत है॥१०६॥

तो भी रहत निज रूप हीसे सार-घृत दधिमें अहा!
वह दूध परिणामी हुआ घृत-सार ज्यों-का-त्यों रहा॥
इस रीतिसे यह बदलती है प्रकृति जिस-जिस रूपमें।
यह आतमा निज रूपसे ही रहत उस उस रूपमें॥१०७॥

जिमि रज्जु में तमसे उरग, जलधार, मालादिक दिखें।
इक रज्जुही, नहिं भिन्न कुछ तिमि आतमा पाठक लखें॥
इस ज्ञान-क्यारीमें सदा चित लाइके जे विचरहीं।
हो मुक्त जीवन "राम-जन्म" विदेह मुक्ति रु पावहीं॥१०८॥

चौथी क्यारी

पंचीकरण

जिस समय अन्धा-धुन्ध जगमें था मचा अति जोरसे ।
श्रुति-शास्त्र-पथ-विपरीत-मारग था बढ़ा चहुं ओरसे ॥
उस समय जिसने नास्तिकोंका मान-मर्दन था किया ।
वैदिक सनातनधर्मका उद्धार था जिसने किया ॥१॥

रवि सम उदय हो रश्मि१वचनोंको बढ़ा इस जगतमें ।
था तम-अविद्याको नशाया, दक्ष श्रुति-मन-रचतमें ॥
अद्वैत-पथ-आचार्य जो साक्षात शंकर-रूप है ।
जगत गुरु जो कारुणिक२ विज्ञान३ ज्ञान४ स्वरूप है ॥२॥

सादर उसी भगवान५ सुष्ठु६ यतीन्द्र७"शंकर"८ नाथके ।
पंकज-पदों का ध्यान धरता हूं सदय उर-पाथ९ के ॥
मल दूर हों संशय१० विपर्यय११ मोह-शोक रु कामना ।
जिससे करूं निज बोध-हित "पंचीकरण"की भावना ॥३॥

१—किरण। २—करुणाको धारण करनेवाला। ३—अपरोक्ष ज्ञान। ४—परोक्ष ज्ञान। ५—सम्पूर्ण ऐश्वर्य,धर्म,यश,श्री,ज्ञान और वैराग्य, ये पांचों जिसमें अप्रतिबन्धक भावसे नित्य निवास करें। ६—सुन्दर। ७—संन्यासियोंके स्वामी। ८—शंकराचार्य। ९—हृदयरूपी जल। १०—वेदान्तशास्त्र अद्वैतका प्रतिपादक है, या द्वैतका और जीव, ब्रह्मका भेद सत्य है,या अभेद। ११—शरीरादि अनात्म पदार्थ सत्य है और आत्मा असत्य है, या जीव, ब्रह्मका भेद सत्य है।

फिर प्रगट वर्णन मैं करूं जिससे जगतमें सर्वदा।
पढ़ कर मुमुक्षु जिसे हरे! निज रूपमें स्थित हों सदा॥
पंचीकरणके ज्ञानको पाठक पढ़ें चित लाइके।
जो हैं बने इक-दूसरेमें पांच भूत[१] मिलाइके॥४॥
अंतःकरण पंचक और पुनि प्राण पंचक जानिये।
ज्ञानेंद्रिया पंचक और कर्मेन्द्रियां पुनि मानिये॥
है विषय पंचक पांचवां, ये पांच पंचक हैं बने।
नभ, वायु, पावक, जल, धरणिसे पांच ये क्रमशः बने॥ ५॥
अंतःकरण नभके कहे जिमि नभ सरिस नहिं दीखते।
हैं प्राण चलते वायु सम, इससे पवनके लीखते॥
पावक सरिस परकाशती हैं विषयको ज्ञानेन्द्रियां।
अतएव पावकसे बनी हैं सकल ये ज्ञानेन्द्रियां॥६॥
जलके सरिस कर्मेंद्रियोंमें चलन किरिया है सही।
जलसे अतः कर्मेंद्रियां, इस बातको संतन कही॥
धरणी सरिस यह ज्ञान-किरियासे रहित पंचक विषय।
अतएव धरणीका कहा यह "तत्त्ववित" जानहिं विषय॥७॥
हैं पांच पंचक, पांच तत्त्वोंके न तेरा एक है।
मेरे कहत नर तू अरे! कैसा महत अविवेक है॥ *
पूर्वोक्त पंचक पांचमें भी भेद इतना जानिये।
अंतःकरण केवल गगनका स्फूर्ति मात्र बखानिये॥ ८॥

१—आकाशादि पांच तत्त्व। * इस पहली प्रक्रियाको स्पष्ट एकासी पृष्ठके पहले चक्रमें देखिये।

पंची करण.

प्रक्रिया दूसरी

वायू सरिस अति चंचला है, अतः मन है पवनका।
अच्छे बुरे कारज प्रकाशित अतः बुद्धी अगिनका॥
चित है द्रवत यह सलिल सम,वस है सलिलका जानिये।
नीचे चलत है सलिल यह चित-कार्य नीचे२ मानिये॥६॥

हंकार करता भू-सरिस जड़, ज्ञान खो करके सही।
अतएव है हंकार धरणीका, इसे संतन कही॥
है व्यान व्यापक व्योम सम तन, अतः है यह गगनका।
मारुत समान, समान चलता, अतः है यह पवनका॥१०॥

है उर्द्ध अरु परकाशवाला अतः अग्नि उदान है।
है जल-सरिस जीवन सभीका अतः जलका प्रान है॥
भू-भाग गंध निकालता है अतः भूमि अपान है।
नाभी अधः जो भूमि भाग, अपानका भी स्थान है॥११॥

ज्ञानेन्द्रियोंमें श्रोत नभका शब्द गुण सुनता अतः।
त्वक वायुका गुण स्पर्शको नित ग्रहण करता है अतः॥
गुण रूपको हैं देखती, आंखें अगिनकी मानिये।
रसना चखे रस गुण, अतः यह तोयकी है जानिये॥१२॥

१=सत्ता। २=अधोगति ले जानेवाला।

वह घ्राण नभकी इन्द्रि, क्योंकी गंध गुणको सूंघता।
है व्योमका वह वाक जो नित शब्द गुणको बोलता॥
नित ग्रहण करते स्पर्शको अतएव कर हैं पवनके।
चलते सदा हैं रूप पर, अतएव पग हैं अगिनके॥ १३॥

रस त्याग करत उपस्थ है अतएव जलका जानिये।
नित गंध त्यागति हैं गुदा, अतएव महिकी मानिये॥
दश इन्द्रियाँ ये तू नहीं नर! क्योंकि इनको जानता।
ये पांच तत्त्वोंकी सदा, भ्रमसे अपानी मानता॥ १४॥

है शब्द नभका स्पर्श वायू पर्श ज्योती रूप है।
रस तोय का है, गंध महि का, आप भिन्न स्वरूप है॥
जो पूर्व कथन प्रकारमें अन्तःकरण दरसात हैं।
वे पांच भूतोंके सतोगुणसे सदा सरसात हैं॥ १५॥

ज्ञानेन्द्रियां भी हैं सतोगुणसे बनी यह मानिये।
कर्मेन्द्रियां अरु प्राण हैं रजसे बने पहचानिये॥
तम से बने पांचों[१] विषय हैं ज्ञान अरु किरिया रहित।
हो ज्ञान जिसमें सत्वगुण, रज चिन्ह है किरिया सहित॥१६॥*

प्रक्रिया तीसरी

पूर्वोक्त पंचीकरण सृष्टी सूक्ष्म भूतोंसे हुई।
वर्णन करूं वह सृष्टि अब जो थूल भूतोंसे हुई॥
ईश्वर करत संकल्प जब, तब सृष्टि होती है सभी।
नहिं शक्ति पांचों भूतमें जो खुद करें सृष्टी कभी॥ १७॥

१=शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। २=अनिर्वचनीय।
*इस दूसरी प्रक्रियाको स्पष्ट एकासी पृष्ठके चक्रमें देखिये।

गत कल्पके जीवन-करम-फल-भोग देनेके लिये।
जब उदय होते हैं, तभी ईश्वर करत इच्छा हिये॥
वह ईश माया—शक्तिसे संकल्प करता है सही।
माया-रहित नहिं है क्रिया उस एक चेतनमें कहीं॥ १८॥

सत-असतसे माया विलक्षण जान लो तुम ऐ सखे!
वह क्योंकि अज्ञ लखे जगत सत, असत ज्ञानी नर लखे॥
ईश्वर किया संकल्प, तब दो भाग सम नभके हुए।
फिर चार हिस्से एकके, मिलि प्रथमके शर३ हो गये॥१९॥

इस भांति वायू आदिके भी भाग शर-शर १ हो गये।
फिर भाग भूतोंके परस्पर इस तरह वे मिल गये॥
हिस्से बड़े आधे युगल इक जगहमें वे नहिं पड़े।
बस, और सब मिलकर हुए समुदाय पांच बड़े-बड़े॥२०॥

हिस्से रहे बस पांच-पांच हरेक उन समुदायमें।
शर-शर प्रकृति उनसे ४ हुईं वाचक लखें इस कायमें॥
भय, शोक, मोह रु काम, क्रोध, तमाम हैं ये गगनके।
धावन, प्रसारण, वलन, आकुञ्चन, चलन—ये पवनके॥२१॥

कफ, शुक्र, शोणित अरु पसीना, मूत्र, जलके जानिये।
भुख, प्यास, आलस और निद्रा, तेज, पावक मानिये॥
ये मांस, नाड़ी, अस्थि, त्वक अरु लोम महिके मानिये।
पच्चीस हैं ये प्रकृति, पांचों तत्त्वके अनुमानिये॥२२॥

---

१ पांच। १ पांच-पांच। २ दो बड़े। ३ समूह, ढेरी। ४ समुदायोंसे।

प्रक्रिया चौथी

वह शोक है केवल गगनका, पूर्व जो नभके कहे।
उन शेषको नभके कहा नभ साथ चारों भी रहे॥
जब शोक होता, नभ सरिस होती दशा जड़ गातकी।
वायू सरिस तनको हिलाती, कामना है वात१ की॥२३॥
पावक सरिस उरको जलाता, क्रोध पावकका अतः।
वह मोह फैलत जल-सरिस, है सलिलका जानहु अतः॥
तन संकुचित-जड़-धरणि-सा भयसे, अतः भय है मही।
है मुख्य धावन२ वायुका, जो वायुके पांचों कही॥२४॥
वह बल तथा है उर्द्ध गतिवाला, अतः पावकका बलन३।
जल भी चलत है, अतः जलका तत्त्व वह जानहु चलन४॥
है मेदनी५ सिमटी हुई, अतएव आकुंचन६ मही।
आकाश सम है पसरता, नभ-तत्त्व परसारण७ कही॥२५॥
हैं तेजके जो प्रकृति पांचों, मुख्य भुख है अगिनका।
जठराग्नि-बलसे क्योंकि लगती है छुधा नित अशनका॥
जल धोइये तन तेज८ बढ़ता, अतः तेज सुनीरका।
है पवनसे हो प्यास लगती, अतः प्यास समीरका॥२६॥
है नींदमें तन शून्य होता, वह अतः है गगनका।
आलस्य, जड़ता करत तन, बस, अतः है वह धरनिका॥
जलकी प्रकृति जो पांच, उनमें मुख्य जलका वीर्य है।
ये सृष्टि-जीवन-हेतु दोनों९ तुल्यता अनिवार्य है॥२७॥

१=वायु। २=दौड़ना। ३=बल करना (लगाना)। ४=चलना। ५=पृथ्वी। ६=अङ्गोंका बटोरना। ७=अङ्गोंको पसारना (फैलाना)। ८=क़ान्ति। ९=जल और वीर्य।

शोणित३ अरुण है धरणिसम, अतएव शोणित धरनिका।
नभ-भाग४-शिरसे कफ झरत, अतएव कफ है गगनका॥
उस पवनमें मिलता पसीना, अतः वह है पवनका।
पावक सरिस है उष्ण होता, अतः मूत्र अगीनका ॥२८॥
सो पांच धरणी तत्त्व, उनमें मुख्य अस्थी५ धरनिका।
बस, शून्य होता लोम६ है, अतएव है वह गगनका ॥
पुनि होत नाड़ीसे परीक्षा उष्णमय ज्वरकी सदा।
अतएव नाड़ी अग्निकी है प्रकृति जानहु सर्वदा ॥२९॥
वह त्वक७ सदा है स्पर्श करता, अतः है वह वायुका।
है मांस गीला जल सरिस, अतएव है वह तोयका८ ॥
"कहुं-कहुं गगनके पांच नभ वर्णन किया यह जानिये।
कटि-नभ उदर-नभहृदय-नभ अरु कंठ-नभ, शिर-गगन ये॥३०॥
भू-भागमल कटिमें रहत, अतएव कटि-नभ धरनिका।
है उदरमें नित तोय रुकता, उदर-नभ है सलिल९ का ॥
रुकता हृदयमें अगिन हृदयाकाश है बस अगिनका।
नित कंठमें रहता पवन, वह कंठ-नभ है पवनका ॥३१॥
शिरमें सदा है शून्य रहता, अतः शिर-नभ गगनका।
बस इस प्रकार सदा समझते भ्यास जिनको मननका ॥
पच्चीस तत्त्वोंके उदय अरु विलयको नित जानता।
नर! अतः तू इनसे पृथक है व्यर्थ अपना मानता ॥३२॥

३=रुधिर। ४=आकाशका भाग शिर है। ५=हड्डी। ६=बाल, केश। ७=त्वचा, चमड़ी। ८=जल। ९=जल।

प्रक्रिया पांचवीं

जागृत अवस्थाका वर्णन

है विश्व अभिमानी, अवस्था जागरण, चख१ थान२ है।
गुण सत्व, वाचा३ वैखरी, मात्रा अकार बखान है॥
है शक्ति किरिया४, थूल भोग, सुतत्त्व आठ बखानिये।
चौथी प्रकिरियामें कथित पच्चीस जो हैं जानिये॥३३॥

स्वप्न तथा सुषुप्त्यवस्थाका वर्णन

तैंतीस सब मिलकर हुए जागृत अवस्थामें सदा।
व्यवहार इनका रहत है ज्ञानी लखहिं यह सर्वदा॥
होती अवस्था स्वप्न जब तैजस करे अभिमान है।
है मध्यमा वाचा रजोगुण और शक्ती ज्ञान है॥३४॥
मात्रा उकार रु भोग सूक्षम कंठ ही पुनि थान है।
ये आठ मिलि पच्चीसमें तैंतीस फिर परमान है॥
है स्वप्नमें व्यवहार इनका अब सुषुप्ती जानिये।
वस्था सुषुप्ती, प्राज्ञ अभिमानी, तमोगुण मानिये॥३५॥
वाचा पशंति५, मकार माता, द्रव्य शक्ती है वहां।
है थान हृदय रु भोग आनँद आठ ही परकृति यहां॥
शिर थान है वस्था तुरीय रु शुद्ध सत गुण है जहां।
वाचा परा है भोग आनन्दावभास सदा वहां॥३६॥

---

* तीसरी और चौथी प्रक्रियाको स्पष्ट बयासी पृष्ठके पहले चक्रमें देखिये। १=नेत्र। २=स्थान। ३=वाणी। ४=क्रिया। ५=पश्यन्तिं।

तुरीय वर्णन

साक्षी करत अभिमान, मात्रा है अमात्र सदा जहां।
है शक्ति इच्छा तत्व ये हैं आठ ही तुरिया वहां॥
मिलि तैंतीस-तैंतीस जागृत-स्वप्नकी परकृत्तियां।
छाछठ सभी वस हो गयीं वाचक सुनें परकृत्तियां॥३७॥

पुनि आठ-आठ सुषुप्ति और तुरीयकी जब मिल गयीं।
परकृत्तियां सबही बयासीं जानिये बस हो गयीं॥
इन बयासी तत्वसे वह है विलक्षण आतमा।
यह क्योंकि इनका भाव और अभाव जानत आतमा॥३८॥

ज्ञाता सदा रहता बिलग है ज्ञेयसे यह सार है।
चैतन्य किरिया रहित, यह पुनि आतमा अविकार है॥
जिमि एकही नर होत पति, तियकी अपेक्षा सर्वदा।
है पुत्र होता पितु अपेक्षा, भगिनिका भाई सदा॥३९॥

वह ही अपेक्षा पौत्रकी होता पितामह जानिये।
तिमि एक ही जागृत अपेक्षा "विश्व-चेतन" मानिये॥
होता अपेक्षा स्वप्नकी "तैजस" सदा चेतन सही।
बस, पुनि सुषुप्तीकी अपेक्षा "प्राज्ञ" उसको श्रुति कही॥४०॥

"आनन्द केवल तम सहित" श्रुतिने सुषुप्तीमें कही।
तीनों अवस्थाकी अपेक्षा होत "तुरिया" है वही॥
तिय, पुत्र, भगिनी और पौत्र रहें नहीं जिस कालमें।
वह पुरुष केवल "एक" संज्ञा—रहित है उस कालमें॥४१॥

श्रुति-वाक्य-जनित विचारसे तिमि तीन वस्था ना रहे।
तब होत "तुरियातीत" चेतन है वही आगम कहे॥
शाश्वत, तुरीयातीत, शुद्ध रु मुक्त वह निर्वाण है।
द्रष्टापना, साक्षीपना, ज्ञातापना, उसमें न है॥४२॥

प्रक्रिया छठवीं

नभ आदिके अन्तःकरण जो ठीक पांच सवार हैं।
वाहन सकल ये प्राण हैं ज्ञानेन्द्रियां वस द्वार हैं॥
पुनि पांच विषया भोग्य हैं कर्मेन्द्रियां सहचर सदा।
यह गगनका अन्तःकरण चढ़ि "व्यान" वाहनपर सदा ॥४३॥

चट श्रोत्र-द्वारेसे निकल कर शब्दको है भोगता।
सहचर सहायक वाक है जो शब्दको नित बोलता॥
वह पवनका मन चढ़ि "समान" रु द्वारत्वकसे निकलकर।
है पर्शको नित भोगता सहचर सहायक दोउकर ॥४४॥

पुनि अग्निका तो वुद्धि है वाहन "उदान" स्वयोग्य है।
फिर नेत्र-द्वारेसे निकलता रूप हो बस भोग्य है॥
है पद सहायक, नीरका पुनि चित्त चढ़ता प्राणपर।
अरु जीभ-द्वारे निकलकर रस भोगता, निज शिश्नचर ॥४५॥

हंकार महिका चढ़ि "अपान" घ्राणद्वारे निकसता।
अरु भोग करता गन्धका गुदही सहायक सरसता॥
जिस तत्वसे जो हैं वने वाहन सदा जिनमें चलन।
फिर द्वार, विषय रु सहचरा, उस तत्त्वके अन्तःकरन ॥४६॥

वाहन पढ़ें उस तत्त्वके ही फिर निजी द्वारे निकल।
उस तत्त्वके ही विषय भोगें अनुचरा वेही सकल॥
जव चढ़हिं वाहनपर सकल अरु द्वारसे जव निकलहीं।
भोगहिं विषय अनुचर सहायक होहिं जव ये सकलहीं ॥४७॥

सब आतमा जानत अरे! इससे अलग इनसे सदा।
"मैं ये सभी" "ये हैं हमारे" व्यर्थ मानत सर्वदा॥
अन्तःकरण अरु प्राण, इन्द्रिय कर्म करते ये सभी।
भ्रमसे अपाना मानता तू शान्ति पाता ना कभी॥४८॥

तू मानता "करते हमी" अतएव भरमत योनिमें।
तजकर सकल अध्यासको विचरो मुकुत हो छोनिमें॥
"करता कराता कुछ नहीं मैं एक अद्वैत शान्त हूं।
निर्गुण, निरंजन, निर्विकार, अनन्त, मुक्त अभ्रान्त हूं"॥४९॥

* प्रक्रिया सातवीं *

अध्यात्म, अधिदैवत और अधिभूत, तीन मिलाइके।
यस कहत त्रिपुटी हैं इसे वाचक सुनें चित लाइके॥
हैं इन्द्रियां अध्यात्म, इनके देव अधिदैवत हरे!
बिनु देवके खुद इन्द्रियां नहिं काज कर सकतीं अरे॥५०॥

ये इन्द्रियोंके काज ही अधिभूत, जानहु भेवको।
ये इन्द्रियां चौदह और इन इन्द्रियोंके देवको॥
अरु इन्द्रियोंके काजको तू जानता है सर्वदा।
इस रीतिसे भी तू विलक्षण देहसे है सर्वदा॥५१॥*

सोये हुए बहु दिन बिते अब जागरे नर जाग रे।
सब वस्तुसे ममता-अहंता त्याग रे नर त्याग रे॥
कंचन रु कामिनि-जालसे तू भाग रे नर भाग रे।
आनन्द-सत-चित रूपमें कर नित्य तू अनुराग रे॥५२॥

नोट—अस्सी पृष्ठके चक्रमें देखिये।

* नोट—अगले पृष्ठमें देखिये।

पंचीकरण

चौदह त्रिपुटियोंके वयालीस तत्व

		इन्द्रियां		देवता		विषय (काज)
अध्यात्म	अन्तःकरण	मन	अधिदैव	चन्द्रमा	अधिभूत	मनन
		बुद्धि		ब्रह्मा		निश्चय
		चित्त		वासुदेव		चिंतवन
		अहंकार		रुद्र		अभिमान
	ज्ञानेन्द्रियां	श्रोत्र		दिग्पाल		श्रवण
		त्वचा		वायु		स्पर्श
		चक्षु		सूर्य		रूप देखना
		रसना		वरुण		रस चखना
		घ्राण		अश्विनी कु०		गंध लेना
	कर्मेन्द्रियां	वाक		अग्नि		बोलना
		हाथ		इन्द्र		ग्रहण करना
		पांव		विष्णु		गमन करना
		लिङ्ग		प्रजापति		मूत्र त्यागना
		गुदा		यमराज		मल त्यागना

इन वयालीस तत्वोंसे आत्मा परे (पृथक) है, द्रष्टा होनेसे।

पिछली सातवीं प्रक्रियाको पढ़िये।

प्रक्रिया आठवीं

अब पांच कोसोंको लखें पाठक यहां इस देहमें ।
हैं कोश कहते "म्यान" को जिमि म्यानरूपी गेहमें ॥
तलवार रहती है सदा नहिं दीखती उस ओटसे ।
तिमि आतमा भी पांच कोशोंके यहाँ इस ओटसे ॥५३॥

नहिं देखता निज रूप, इन्हें 'मैं' 'अपना' मानता ।
इनका सदा अध्यास करि निज रूपको नहिं जानता ॥
यह अन्नसे उपजे सदा अरु वृद्धि होता अन्नसे ।
लय होत है पुनि अन्नमें, नहिं भिन्न है यह अन्नसे ॥५४॥

मल-मांस-मय यह थूल ही तन "अन्नमय" दरशात है ।
कर्मेंद्रियां अरु प्राण मिलि बस,"प्राणमय"सरसात हैं ॥
यह अन्न-मयमें ही सदा रहता इसे पहिचानिये ।
ये प्राण अरु कर्मेन्द्रियाँ बस हैं क्रियात्मक जानिये ॥५५॥

ज्ञानेन्द्रियां अरु मन मिलत जब,तब,"मनोमय"कोश है ।
है प्राणमयके बीच रहता, ज्ञानमय यह कोश है ॥
जब मिलहिं बुधि-ज्ञानेन्द्रियां "विज्ञानमय" तब होत है ।
इसका मनोमय में सदा बस जानिये उद्योत है ॥५६॥

अज्ञान हीं "आनन्दमय" है कोश कहलाता सही ।
विज्ञानमयके बीचमें रहता सदा बस है यही ॥
सब कोशका कारण यही, लय सब इसीमें होत हैं ।
रहता सुषुप्तीमें यही जब 'करण' सब लय होत हैं ॥५७॥

ये तीन तनके बीचमें हैं कोश पाँचों जानिये।
तन थूलमें है "अन्नमय" रहता सदा पहिचानिये॥
"आनन्दमय" है "हेतु" तनमें ही सदा रहता सही।
है "सूक्ष्म" तनमें तीन रहते शेष जो बचिगे वही॥५८॥

या "सूक्ष्म" तन है "प्राण" मन 'विज्ञान' जानहु ऐ सखे।
तन "थूल" है बस "अन्नमय" "आनन्दमय" "कारण" लखे॥
जागृत अवस्थामें रहें तन तीनहूं यह जानिये।
आती अवस्था स्वप्न जब, तब थूलका लय मानिये॥५६॥

"कारण शरीर" सुषुप्तियमें केवल रहत पहिचानिये।
ऐ सखे! जब-जब उदय लय होत हैं तन कोश ये॥
तू सर्वदा जानत अरे! अतएव इनसे भिन्न है।
तू शुद्ध है न विकार, तुझमें होत व्यर्थहि खिन्न है॥६०॥

जिमि अक्षरोंमें श्रेष्ठता ॐकारसे नहिं है कभी।
है वर्णमें नहिं विप्र[१] से, शशिसे न नखतनमें[२] कभी॥
है श्रेष्ठता तिमि और ज्ञानोंमें न "पंचीकरण" से।
दृढ़ "राम जन्म" सुबोध हो, इस चारु क्यारी शरणसे॥६१॥

इस आठवीं प्रक्रियाको स्पष्टतया ८२ पृष्ठके दूसरे चक्रमें देखिये।

१=ब्राह्मण। २=तारागण।

चक्र

इस पंचीकरण क्यारीकी छठवीं प्रक्रिया पढ़िये ।

सवार	वाहन	द्वार	भोग्य	सहायक	
(अंतःकरण)	(पंचप्राण)	(ज्ञानेंद्रियां)	(पंचविषय)	(कर्मेंद्रियां)	
अंतःकरण	व्यान	श्रोत्र	शब्द	वाक्	आकाश
मन	समान	त्वचा	स्पर्श	हाथ	वायु
बुद्धि	उदान	नेत्र	रूप	पाद	तेज
चित्त	प्राण	रसना	रस	लिंग	अप
अहंकार	अपान	घ्राण	गंध	गुदा	पृथ्वी

आत्मा इन तत्त्वोंसे पृथक है, ज्ञाता होनेसे ।

* नोट—यदि कोई शंका करे कि अंतःकरणसे तो मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार ही हैं, पांचवां कहांसे आयगा ? इसका समाधान यह है कि सुषुप्ति तथा समाधि अवस्थामें पूर्वोक्त चार अंतः-करणोंके न रहनेपर भी अंतःकरण रहता है ; क्योंकि सुषुप्ति अवस्था-में अविद्यांश मनादि अंतःकरण चतुष्टय तथा वाह्य करणोंको भी अपनेमें लय करके तथा स्वयं आत्माका आश्रय करके अंतःकरणमें हो रहता है तथा समाधि अवस्थामें जब अविद्याके सहित सम्पूर्ण कारण आत्मप्रकाशमें लय हो जाते हैं , तब वह आत्मप्रकाश अंतः-करणमें ही रहता है । यदि अंतःकरण न रहे, तो सुषुप्तिसे जागृत अथवा स्वप्न तथा समाधिसे उत्थान न हो । जिस कालमें अंतःकरण नहीं रहेगा उस कालमें शरीर नष्ट हो जायगा । ज्ञान होनेपर ही अन्तःकरण नष्ट होता है; परन्तु जबतक प्रारब्ध भोग रहता है, तब-तक नष्ट नहीं होता है । जैसे जल रूपी तरंगोंके न रहनेपर भी जल रहता है, वैसे ही मनादिके न होनेपर भी निस्पन्द रूपसे अन्तः-करण रहता है, जैसे एक ही जल तरंगोंके रूपमें हो जाता है, वैसे ही एक ही अन्तःकरण मनादिके रूपमें हो जाता है ।

———

पंचीकरण

चक्र १

इस पंचीकरण क्यारीकी पहली प्रक्रिया पढ़िये ।

आकाश		पवन		अग्नि		जल		पृथ्वी	
अन्तःकरण पंचक	अन्तःकरण	प्राण पंचक	व्यान	ज्ञानेन्द्रिय पंचक	श्रोत्र	कर्मेन्द्रिय पंचक	वाक	विषय पंचक	शब्द
	मन		समान		त्वचा		पाणि		स्पर्श
	बुद्धि		उदान		नेत्र		पाद		रूप
	चित्त		प्राण		रसना		लिंग		रस
	अहंकार		अपान		घ्राण		गुदा		गंध

आत्मा इनसे परे है, द्रष्टा होनेसे ।

चक्र २

इस पंचीकरण क्यारीकी दूसरी प्रक्रिया पढ़िये ।

	अन्तःकरण	प्राण	ज्ञानेन्द्रियां	कर्मेन्द्रियां	विषय
आकाश	अन्तःकरण	व्यान	श्रोत	वाक	शब्द
वायु	मन	समान	त्वचा	हाथ	स्पर्श
अग्नि	बुद्धि	उदान	नेत्र	पांव	रूप
जल	चित्त	प्राण	रसना	लिंग	रस
पृथ्वी	अहंकार	अपान	घ्राण	गुदा	गंध
	सतगुण	रजगुण	सतगुण	रजगुण	तमगुण

आत्मा इनसे पृथक है, साक्षी होनेसे ।

चक्र नं० १

इस पंचीकरण क्यारीकी तीसरी और चौथी प्रक्रिया पढ़िये।

	आकाश	वायु	अग्नि	जल	पृथ्वी
आकाश	शोक	काम	क्रोध	मोह	भय
वायु	प्रसारण	धावन	वलन	चलन	आकुञ्चन
अग्नि	नींद	प्यास	भूख	तेज	आलस्य
जल	कफ	पसीना	मूत्र	वीर्य	शोणित
पृथ्वी	लोम	त्वक	नाड़ी	मांस	अस्थि
आकाश	शिराकाश	कंठाकाश	हृदयाकाश	उदराकाश	कट्याकाश

आत्मा इनसे पृथक है, द्रष्टा होनेसे।

चक्र नं० २

इस पंचीकरण क्यारीकी आठवीं प्रक्रिया पढ़िये।

जाग्रत अवस्था	अन्नमय कोश	स्थूल शरीर	प्राणमय कोश		मनोमय कोश		विज्ञानमय कोश		आनन्दमय कोश	अज्ञान (कारण)
				हाथ		श्रोत्र		श्रोत्र		
				पांव		त्वचा		त्वचा		
				लिंग		नेत्र		नेत्र		
				गुदा		रसना		रसना		
				वाक		घ्राण		घ्राण		
				प्राण		मन		बुद्धि		
	स्थूल शरीर		सूक्ष्म शरीर						कारण शरीर	
			स्वप्न अवस्था							

आत्मा इनसे परे है द्रष्टा होनेसे।

पांचवीं क्यरी

जगत
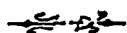
ऊर्द्ध्व मूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१ ॥*
(गीता अ० १५ श्लोक १)

कंटक-क्रियाके विपिनमें सब प्राणियोंको देख कर ।
सब द्वैत-वादी हैं फँसाते बात यह भी पेख कर ॥
करुणा-विवश हरिने लिया अवतार व्यास स्वरूपमें ।
अद्वैत-पथ कण्टक-रहित "वेदान्त-दर्शन" रूपमें ॥ १ ॥

करके बचाया प्राणियोंको जन्म-मृत्य कलेशसे ।
नभ-बाग सम जग-वाटिका जिनकी कृपा लवलेशसे ॥
अत्यन्त मिथ्या होति है, उन्हीं सु मुनिवर व्यासको ।
करता प्रणाम सविनय मैं मम हृदयमें करि वासको ॥ २ ॥

---

*माया-सहित (परब्रह्मरूपी) ऊपरको है मूल जिसका, (महान्, अहंकार, तन्मात्रादि), नीचेको है शाखा जिसकी और (ऋग्, यजु, साम रूपी) वेद हैं पत्ते (रक्षक) जिसके, (ऐसा यह) अश्व= कलको नहीं, त्थ=स्थित रहनेवाला—संसार रूपी वृक्ष—अव्ययं कहा गया है। इस संसार वृक्षको जो मूल सहित जानता है, वह वेद विद् अर्थात् वेदके अर्थको भली-भांति जाननेवाला है।

जग-वाटिका लिखवावहीं जिज्ञासु जन जानहिं जिसे।
रवि-किरण-जलसम जानकर वे हृदयसे त्यागहिं जिसे॥
जग-वाटिका कैसी बनी सुन्दर-सुचारु-सुहावनी।
जिमि ललित दीखति है मिठाई जो महा विषसे सनी ॥३॥

है मूल इसकी जड़* प्रकृति अंकुर विषया१-पांच हैं।
रज, तम, सतोगुण,शुध, सतोगुण,चार येंपुनि त्वाच२ हैं॥
मन और पांचो तत्त्व मिलि पट हैं तना ये दृढ़ महा।
पच्चीस+मुख्य प्रकृति बने शाखा तहाँ अद्भुत अहा ॥४॥

करते कथन जो कर्मका श्रुति३ छन्द वे पत्ते घने।
फल-कामना-युत शुभ-अशुभ नित कर्म होहिं सुमन४ घने५॥
फल, पुन्य-अघहो, रस भरा सुख-दुःख तामें जानिये।
तहं देव, नर, विधि, यक्ष, किन्नर, आदि पक्षी मानिये॥५॥

ये भूर्भुवः स्वः लोक आदिक घोंसले करके बसे।
कटु६-मधुर७ रसको चाखते नहि तृप्त होते हैं फंसे॥
दो पक्ष कर्म उपासनाके हैं ललित उनके लगे।
जिनके उड़े इक घोंसलेसे दूसरे तक वे खगे८ ॥ ६ ॥

*यहां जड़ प्रकृति (माया) के सहित परमेश्वरको समझना चाहिये ; क्योंकि जड़ होनेसे केवल प्रकृति जगतका कारण नहीं हो सकती। १=(महान, अहंकारके सहित) शब्द, स्पर्श, रूप रस और गंध। २=त्वचा (छिल्का)। +=पृष्ठ ६८ की पंक्ति ८ से १२ तक देखिये। ३=वेदकी ऋचाएं, शुभाशुभ कर्मोंके कथन द्वारा प्राणियोंको कर्मोंमें प्रवृत्त कराकर फल-भोग निमित्त बार-बार जगत में जन्म करानेसे संसारके रक्षक हैं। ४=पुष्प। ५=बहुत। ६=दुःख। ७=सुख। ८=पक्षी।

इस वाटिकामें है बढ़ी इक-वासना* वल्ली अहा!
रक्षक यहां इस वाटिकाके द्वैत-वादी हैं महा॥
खगमार१ आ तहँ कामका दृढ़ मोह-जाल बिछा रहा।
पक्षी सकल ये क्लेश पाते जालमें फँस कर महा॥ ७॥

झड़ते सदा पत्ते-पुहुप२ नित नवल भी लगते सभी।
है रागसे सींची हुई नहिं सूखती यह है कभी॥
अति डालियोंकी रगड़से बल जात तृष्णा आग भी।
वह आग जिससे छू-गयी सकता नहीं कहुं भाग भी॥८॥

हैं क्रोध अरु कामादि-कांटे वाटिकामें दृढ़ महा।
इनमें फंसे नर दुःख पाते निकल नहिं सकते अहा!
गज चिक्करत हंकारका ३वृक-लोभ, मत्सर४ उरग५ है।
नितही असूया६ की पिशाचिनि फीरती चहुं मार्ग है॥ ९॥

काढ़े दशन, आंखें निकाले लालसे कोई दिखें।
कुछ जीव विष-युत, क्रोध-युत,कर मींसकर मारहिं चिखें७॥
कुछ करहिं नृत्य रुदन करहिं,कुछ हंसहिं करहिं अलापिका८।
इस तरह जीव अनेक घातोंसे भरी यह वाटिका॥ १०॥

आशा नदी है निकट ही जिसमें पड़े बहु जीव हैं।
परिवार-खोह असीम९ है जिसमें गिरे बहु जीव हैं॥
है वित्त ही पर्वत जहां बहु जीव चढ़ि गिरि जात हैं।
घायल हुए कुछ ताकते कुछ गिरत ही मर जात हैं॥ ११॥

---

*=(सुत, वित्त, लोककी) वासना रूपी बेलि, लता।
१=बहेलिया। २=पुष्प। ३=भेड़िया। ४=डाह, जलन। ५=सर्प।
६=निन्दा। ७=चिंघाड़। ८=शोर। ९=देहरु।

इस वाटिकामें इस तरह बहु प्राणघातक विघ्न हैं।
रक्षा करें गजवदन वे जो नित्य नाशक विघ्न हैं॥
यह वाटिका चहुं ओर फैली उर्द्ध-नीचे भी गयी।
कुछ ओर-छोर न, है कहां तक और यह कबसे हुई॥ १२॥

आश्चर्य है नहिं दीखती यह जिस तरह वर्णन किया।
पै हैं इसे सु विचार चखसे देख ज्ञानीने लिया॥
रहता अविद्या-रातसे नित ही अन्धेरा है यहां।
आश्चर्य है बिनु रातके लगता पता न गयी कहां॥ १३॥

इस वाटिकाको देखकर जो जीव फंस जाता अहा!
बहु जन्ममें उसको निकलना अगम हो जाता महा॥
अति भाग्यसे जो निकलकर फिर भी पड़ा इस जालमें।
दुर्भाग्य है पछतायगा वह मूढ़ आखिर कालमें॥ १४॥

उसका यही अब काम है जो जीव इसमें है पड़ा।
निःसंग रूपी शस्त्रसे दे काट मूल न हो खड़ा॥
बस, यह अनादि कु-वाटिका जब आप ही गिर जायगी।
यह नष्ट ही हो जायगी नहिं फिर कभी उपजायगी॥ १५॥

फिर कामना तजि, मान तजि, जित संग-दोषोंको सदा।
सुख-दुःख रागरु द्वेष-द्वन्दोंसे रहित हो सर्वदा॥
अध्यात्म-ज्ञान सहित लगे उस खोजमें अनरूप जो।
जग वाटिकाका जो अधार, अचिन्त्य-शाश्वत रूप जो॥१६॥

जहं चन्द्र-पावक-सूर्य भी नहिं गमन कर सकते कभी।
किमि जाहिं तव मन, वाक,आंखें स्वामि नहिं पहुंचे जभी॥
उस जगह पर नर पहुंच करें बस, थीरही हो जात है।
फिर जन्म,मृत्यु,जरा,विविध-दुख नहिं कभी दरशात है॥१७॥

जो "राम जन्म" मनन करहिं यह जगत-क्यारी ध्यानते।
आसक्ति जगकी तोड़ि पावहिं "मुक्ति" आतम ज्ञानते॥

छठवीं क्यारी

शास्त्र

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा तस्य शास्त्र करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यसि॥*

षट-शास्त्रके भी विषयमें कुछ लोग वाद बढ़ा रहे।
कोई कहत सब शास्त्र आपसमें विरोध बता रहे॥
फिर है विशिष्टाद्वैत मति सब शास्त्रकी कोई कहे।
कोई कहे बस, द्वैत ही फल-स्वर्ग ही कोई कहे॥ १॥

है सम्प्रदाय सदा हमारी शास्त्रमें कुछ कहत हैं।
मम इष्ट ही है श्रेष्ठ, और अश्रेष्ठ कोई कहत हैं॥
कोई कहत बस, अध्ययनसे ही मुकुत नर होत है।
कोई कहत हठ-योग ही सब शास्त्रमें उद्योत है॥ २॥

कोई कहत परमाणु ही बस मूल तत्त्व दिखात हैं।
कोई कहे ये पुरुष और प्रधान मूल लखात हैं॥
वैकुण्ठ आदिक लोक पाना 'मोक्ष' कोई बदत हैं।
जग इस तरह हलचल मची सुनि जीव भ्रममें परत हैं॥ ३॥

---

*जिसको स्वयं बुद्धि नहीं है, उसके लिये शास्त्र क्या कर सकता है? नेत्रोंसे विहीन (अन्धे) के लिये दर्पण क्या करेगा? तात्पर्य—जैसे अन्धेके लिये दर्पण निरर्थक है, वैसे ही बुद्धिहीन पुरुषके लिये शास्त्र निरर्थक हैं।

उस बुद्धिहीन मनुष्यको क्या शास्त्र कर सकते अरे !
लोचन-विहीन जो अंध है,उसको मुकुर फिर क्या करे ॥
विकसित करू ं उस भावको पाठक सुनें चित लाइके ।
पाता परम कल्याण है जिस तत्त्वको नर पाइके ॥ ४ ॥
सिद्धान्त सबका है वही वाचक करें निश्चय हिये ।
निर्मित हुए सब शास्त्र बस, वह 'तत्त्व' दर्शाने लिये ॥
वह "पूर्व मीमांसा"१ सकल यज्ञादि कर्मोंको कहा ।
जिन्हें किये निष्कामसे अन्तःकरण शुध हो अहा ॥ ५ ॥
सब ही "पुरान"२ हुए उद्योत उपासना नित करनको ।
वह शास्त्र"पातञ्जलि" बना मन-इन्द्रियां वश करनको ॥
बस,शब्द-बोध-निमित्त ही "बहु-सूत्र" ३व्याकरणी बके ।
बहु शास्त्र वाक्य विचारनेमें कुशल जिमि नर हो सके ॥ ६ ॥
पुनि तर्कमें अति तीव्र हित वे "न्याय"४"वैशेषिक"५बने ।
उन प्रकृति-पुरुष-विचारही-हित "सांख्य"को मुनिवर६ भने ॥
निष्काम करके कर्मको अन्तःकरण जब शुद्ध भा ।
पढ़ि "व्याकरण"अच्छी तरह जब शब्दका भी बोध भा ॥७ ॥
पौराणमें वर्णित उपासन करत मन निर्मल किया ।
जिस रूपमें रुचि हो उसी बस रूपको धारा हिया ॥
करि भ्यास 'पातञ्जलि यदा मन इन्द्रियां वशमें हुए ।
अति तीव्र बुद्धि-सतर्कमें करि भ्यास न्यायादिक हुए ॥ ८ ॥

१=इसके कर्त्ता जैमिनिजी हैं। २=इनके कर्त्ता व्यासजी हैं। ३=इनके कर्ता पाणिनि, इत्यादि। ४=इसके कर्त्ता गोतमजी हैं। ५=इसके कर्त्ता कणादजी हैं। ६=कपिलदेवजी।

फिर सांख्य-शास्त्र विचार करि छर-अछरको पहचानिये।
वेदान्तका तब करि विचार सु-तत्त्वको अनुमानिये॥
जिसमें युगल छर-अछर कल्पित तोय जिमि रवि-कर विषे।
बस है तुम्हारा रूप वह सब भ्रम मिटे जानहु उसे॥ ९॥
बस है यही तात्पर्य नर सब शास्त्र और पुरानका।
निज वुधि सरिस मैंने कहा अब नाम लो भगवानका॥
सब शास्त्र विनु अभ्यासके ही ज्ञान जो अद्वय विषे।
सब पूर्व-जन्मोंमें किया बस भ्यास है जानहु उसे॥१०॥
इस शास्त्र क्यारीमें सदा जो जन विहार बढ़ावहीं।
वे "रामजन्म" न भटकहीं श्रुति-शास्त्र-भेद मिटावहीं॥

* इति प्रेम-वैराग्यादि वाटिका सम्पूर्णम् *

शास्त्र-वचन

आरूढ़ भक्तकी अवस्था और ब्रह्मज्ञान प्राप्तिके इच्छुक शिष्य-की अवस्था एक ही है।

ज्ञानयोगकी नित्यानित्य वस्तु विवेक और भक्ति-योगकी अनन्य ममता एक ही बात है।

प्रेमरूपी दूधका माखन विरह है। मिलनमें प्रेम सो जाता है और वही विरहमें जाग उठता है। विरहही प्राणका जीवन है।

आशा और प्रतीक्षा, प्रेमियोंके हिस्से ये ही दो हैं।

जैसे अग्नि और पटके संयोगके उपादान कारण अग्नि और

पट दोनों हैं और संयोगरूपी कार्यके उत्पन्न होते ही कार्य-कारणका नाश्य-नाशक भाव हो जाता है वैसे ही विद्यासे उत्पन्न हुए वृत्ति-ज्ञानसे कार्य-सहित अविद्याका नाश हो जाता है।

जैसे लहशुनके भांड (वरतन) को प्रक्षालन करनेपर भी गंध रह जाती है वैसे ही अविद्याके नाश हो जानेपर भी प्रारब्धकी प्रवलतासे अविद्याका लेश रह जाता है। उसीको तुला-ज्ञान कहते हैं; वह अविद्या-लेश, स्वरूपका आवरण नहीं करता है केवल प्रारब्ध-भोगके लिये विक्षेप कारक होता है।

जैसे तृण-समूहमें फेंका हुआ अंगार तृण-समूहको भस्मी-भूत करनेके वाद उसके साथ ही भस्म हो जाता है वैसे ही कार्य-सहित अविद्याको नष्ट करके तत्वज्ञान स्वयं भी निवृत्त हो जाता है। तत्वज्ञानकी निवृत्तिमें और साधनोंकी अपेक्षा नहीं रहती है।

जिस तत्त्वज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है, उसके दो साधन हैं। उत्तम अधिकारीके लिये श्रवणादि साधन हैं और मध्यम अधिकारीके लिये निर्गुण ब्रह्मका अहंग्रह उपासना ही तत्त्वज्ञानका साधन है।

परोक्ष ज्ञानके संस्कार विशिष्ट एकाग्र चित्त-सहित शब्दसे अपरोक्ष ज्ञान होता है, तथा प्रमातासे अभेद बोधक शब्दसे अप-रोक्ष ज्ञान होता है।

अन्तःकरणकी ज्ञान-रूप वृत्तिका उपादान-कारण अन्तः-

करण है तथा प्रत्यक्षादिक प्रमाण और इन्द्रिय-संयोग निमित्त कारण हैं।

ईश्वरके ज्ञान रूप वृत्तिका उपादान कारण माया है और निमित्त कारण अदृष्टादिक हैं।

शुद्धात्म गोचर प्रमा दो प्रकारकी है। एक ब्रह्मागोचर और दूसरी ब्रह्म गोचर। अवान्तर वाक्यसे पहली और महा-वाक्यसे दूसरी उत्पन्न होती है।

विशिष्टात्म गोचर प्रत्यक्ष प्रमाके अनन्त भेद हैं।

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओंका कारण भूत जो संस्कार रूप कर्म-वासना है, और वृत्ति ज्ञान रूप अंतः-करणका निमित्त कारण भूत जो संस्कार रूप ज्ञान वासना है; इन सब वासनाओंका आश्रय अज्ञान है।

मनरूपी पक्षी पाप-पुण्यरूप सूत्रसे बंधा हुआ हृदयदेशरूपी स्थंभमें बन्धा है। जब रागरूपी क्षुधा जागृत होती है, तब तीन दुःख (दैहिक, दैविक, भौतिक) से व्याकुल हुआ शरीरमें चहुं-ओर उड़ता है। और (जाग्रत तथा स्वप्न अवस्थामें) स्थूल एवं सूक्ष्म विषयरूपी खाद्य पदार्थके पानेपर अथवा न पानेपर भी थक कर (सुषुप्ति अवस्थामें) पुनः हृदय-देशमें स्थित होकर विश्राम लेता है। विश्रामके बाद पुनः रागरूपी क्षुधा जागृत हो जाती है, तो फिर उड़ता है। इस प्रकार पूर्वोक्त क्रियायें वार-वार हुआ करती हैं। जब मन शुद्ध होकर स्वाधिष्ठान जो ब्रह्म है, उसको प्राप्त कर लेता है, उसी समय बन्धन तथा क्षुधासे निवृत्त हुआ निरतिशय सुखका अनुभव करता है।

चित्तकी शुद्धिमें चार हेतु हैं—रज, बीज, आहार और व्यवहार।

आत्माकी संज्ञाएं—अपहतपाप्मा, विजर, विमृत्यु, विशोक, विजिघत्स अपिपास, सत्यकाम, सत्यसंकल्प इत्यादि।

तपा हुआ लोह-पिंड अग्निसे ही प्रकाशित है। वैसे ही सम्पूर्ण जगत (अनात्म-पदार्थ) आत्मासे ही प्रकाशित है।

कर्म, उपासनाका नाम अपरा विद्या और ज्ञानका नाम पराविद्या है।

आत्माकी भावनाएं फैलाकर भावनामय देहके धारण करने पर जो कुछ होता है, वही समष्टि मन अथवा ब्रह्मा है। समष्टि मन (ब्रह्मा) धारीको ब्रह्म कहते हैं।

स्मृति दो प्रकारकी होती है—एक तो पहले किये हुए अनुभवके संस्कारसे, और दूसरी अनादि अविद्या शक्तिरूप वासना द्वारा।

रज्जुमें जो कल्पित सर्प है, उसका अधिष्ठान रज्जु नहीं है; किन्तु चेतन है! क्योंकि उस सर्पका उपादान कारण अज्ञान है; और चेतनमें अज्ञानके कल्पित होनेसे, अज्ञानका अधिष्ठान चेतन हुआ, तथा उपादान-कारणसे कार्य भिन्न नहीं होता है। इसलिये अज्ञानका अधिष्ठान होनेसे कल्पित सर्पका भी अधिष्ठान चेतन ही है।

जैसे एकही देवदत्तके प्रति प्रसंगानुसार 'तू देवदत्त है,' 'वह देवदत्त है,' 'यह देवदत्त है', इत्यादि अनेक प्रकारके वाक्य कहे

जाते हैं। इनमें एकही सत्य 'देवदत्त' सब वाक्योंमें है। तू, वह, यह इत्यादि तो देवदत्तमें कल्पित हैं और व्यभिचारी* होनेसे अत्यन्त असत्य हैं। उसी प्रकार 'यह सर्प है', 'यह रज्जु है', 'यह सर्प रज्जु है', इत्यादिमें "यह" शब्द व्यापक है, अतः सत्य है, और इसी "यह" में रज्जु सर्प, कल्पित होनेसे झूठे हैं। यह चेतन नहीं "यह" शब्दसे प्रतीत होता है; यही सर्पादिका अधिष्ठान है। यह—इदं—शब्द चेतनका विशेष रूप है, न कि सामान्य।

जैसे जलकी तरङ्ग—चञ्चलता—और कुण्डलका आकार ही जल तथा स्वर्णको पृथक दिखाता है वैसे ही नाम और रूपही ब्रह्मको पृथक प्रतीत करता है। जैसे तरंग तथा कुण्डल कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है; किन्तु जल तथा स्वर्णरूप ही है वैसे ही नाम तथा रूप भी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है; किन्तु ब्रह्म रूपही है।

कार्यमें ही भेद होता है; कारणमें नहीं। कार्य जड़ है। अविद्यामें उत्पत्ति रूप कार्यता नहीं है, किन्तु अधिष्ठानमें कल्पितत्वरूपी कार्यता है। अतः जड़ होते हुए भी अविद्यामें भेद नहीं है; किन्तु अविद्या (अज्ञान) एकही है।

निर्गुण ब्रह्ममें जगतकी कारणता सिद्ध करनेवाली जो माया है, वह वास्तवमें नहीं है; किन्तु उस मायासे मोहित हुए अज्ञानी जन मायाको ब्रह्ममें देखते हैं। अतएव वह माया, ब्रह्ममें मायासेही है।

* जो एक जगह रहे और दूसरी जगह न रहे, उसे व्यभिचारी कहते हैं।

जैसे दिनमें उलूक पक्षी रात्रिका अनुभव करता है। इस विषयमें कोई दूसरा प्रमाण नहीं है; किन्तु उस उलूकका अनुभव ही प्रमाण है। वैसे ही ब्रह्ममें मायाकी सिद्धिके लिये अज्ञानी जीवोंके अनुभवके अतिरिक्त दूसरा प्रमाण नहीं है।

अन्धकार कुछ वस्तु नहीं है, किन्तु सूर्यका अदर्शन ही अंधकार है। वैसे ही माया कुछ पदार्थ नहीं है, किन्तु ब्रह्मकी अप्रतीतिही माया है। जैसे सूर्यदर्शनसे अन्धकारका पता नहीं लगता है वैसे ही ब्रह्मवेत्ता गुरुके उपदेशसे उत्पन्न हुआ आत्मसाक्षात्कारसे मायाका पता नहीं लगता है।

जिससे यह प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और फिर जिसमें लय हो जाते हैं, वही ब्रह्म है। उसीको जाननेकी इच्छा करो।

सांख्योंकी जड़-प्रकृति जगतका कारण नहीं हो सकती; क्योंकि श्रुति कहती है "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय।" उसने इच्छा की कि मैं बहुत प्रजा (जगत) वाला होऊं। जड़ होनेसे प्रकृतिमें इच्छाका अभाव पाया जाता है। इसलिये जगतका कारण प्रकृति नहीं है।

सांख्यवादियोंका कथन है कि सत्व, रज, तम—इन तीन गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम प्रधान है और इसीको प्रकृति भी कहते हैं। जगतके आदि कालमें सृष्टि रचनेके लिये प्रकृति अपनी साम्यावस्थाका परित्याग करती है। यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे चेतन कुलालके बिना जड़ मृत्तिका, स्वयं घट नहीं

बन सकती तथा चेतन जुलाहेके बिना जड़-तन्तु स्वयं वस्त्र नहीं बन सकते ; वैसे ही किसी चेतनके बिना जड़ प्रकृति स्वयं साम्यावस्थाका परित्याग करके जगत नहीं रच सकती है।

पुरुष उदासीन है, अतः जड़ प्रकृतिको प्रेरित भी नहीं कर सकता है। अतएव जगतका कारण जड़ प्रकृति नहीं हो सकती।

यदि जगतके उत्पत्ति-लयके कारणमें प्रकृतिका स्वभाव ही मान लिया जाय, तो भी ठीक नहीं ; क्योंकि स्वाभाविक गुण कभी मिट नहीं सकता। जैसे अग्निकी उष्णता एवं जलकी शीतलता स्वाभाविक है, किसी प्रकार मिट नहीं सकती, उसी प्रकार यदि प्रकृतिमें सृष्टि करनेका स्वाभाविक गुण हो, तो सृष्टिका लय कभी नहीं होना चाहिये और मोक्ष नहीं होना चाहिये। यदि लय करनेका स्वभाव हो, तो सृष्टि नहीं होनी चाहिये और बंध नहीं होना चाहिये। तथा परस्पर विरोध होनेके कारण सृष्टि और लय—ये दोनों धर्म प्रकृतिमें एक साथ नहीं रह सकते, अतः जगतका कारण प्रकृति नहीं हो सकती है।

जब कि तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाको ही प्रकृति (प्रधान) कहते हैं, तो सृष्टिकालमें साम्यावस्थाके भंग हो जानेसे सांख्यों-की प्रकृति (प्रधान) ही नष्ट हो जाती है। इस तरह प्रकृतिको जगतका कारण माननेमें अनेक दूषण उपस्थित होते हैं।

नैयायिकों तथा वैशेषिकोंका कथन है कि जगतका कारण परमाणु हैं। ये परमाणु पृथ्वी, जल, अग्नि इत्यादिके सूक्ष्म परमाणु गन्ध, रस, रूप, इत्यादि गुणवाले, निरवयवी तथा रूप-

वान् हैं। जब इन परमाणुओंका परस्पर संयोग* होने लगता है, तब दो परमाणुओंका संयोग होकर मध्यम रूपवाले अवयवी द्वयणुक, तीन परमाणुओंके संयोगसे दीर्घ रूपवाले अवयवी त्र्यणुक, तथा तीनसे अधिक परमाणुओंके संयोगसे अवयवी महान रूपवाले पृथ्वी, जल तथा वायु तैयार हो जाते हैं। इस तरह क्रमशः जगत बन जाता है। और जब इन द्रव्यों (तत्त्वों) का परस्पर विभाग होने लगता है, तब विलग-विलग होकर शेषमें वेही परमाणु रह जाते हैं। इसीको जगतका लय कहते हैं। इस तरह जगतके उत्पत्ति-लयमें परमाणु ही कारण हैं।

पूर्वोक्त परमाणुवादी नैयायिकों तथा वैशेषिकोंका सिद्धान्त ठीक नहीं है ; क्योंकि निरवयव पदार्थोंका संयोग देखनेमें कहीं नहीं आता है। यदि निरवयव पदार्थमें संयोग होता, तो आकाश का भी संयोग किसी पदार्थसे होना चाहिये। जब कि एक निर-वयव आकाशका संयोग किसी सावयव पदार्थसे नहीं है, तब सम्पूर्ण निरवयवी परमाणुका परस्पर संयोग कैसे हो सकता है?

रूपवाले परमाणु नित्य नहीं हो सकते, क्योंकि "यत्र यत्र रूपत्वं, तत्र तत्रानित्यत्वम्" जहां-जहां रूप है, वहां-वहां अनि-त्यता है। जैसे पृथ्वीमें स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध है, जलमें स्पर्श, रूप तथा रस है, और वायुमें स्पर्श गुण है ; वैसे ही इन

* स्मरण रहे स्वजातीय परमाणुओंके ही परस्पर संयोगसे तत्त्व उत्पन्न होते हैं, दूसरे तत्त्वके द्रव्यमें दूसरे तत्त्वका द्रव्य मिल-कर नहीं।

पृथिव्यादि द्रव्योंके परमाणुओंमें भी होने चाहिये ; क्योंकि ये परमाणु पृथिव्यादिके उपादान कारण हैं। उपादान कारणका गुण कार्यमें अवश्य होता है। घटमें मृतिका तथा वस्त्रमें तन्तु होते हैं। इस रीतिसे परमाणु न्यूनाधिक प्रमाणके हो जायेंगे, तब उनकी परमाणुता नष्ट हो जायगी ; क्योंकि पृथ्वी विशेष गुणवाली होनेसे वायु तथा जलकी अपेक्षा महान् है तथा वायु-की अपेक्षा अधिक गुणवाला होनेसे जल वायुसे महान है। वैसे ही इन द्रव्यों (तत्त्वों) के परमाणु भी एककी अपेक्षा दूसरा न्यूना-धिक गुणवाला होनेसे परमाणु रूपी समानता नहीं सिद्ध होगी।

जड़ होनेसे परमाणु स्वयं संयोग एवं विभागवाले नहीं हो सकते ; क्योंकि यह प्रत्यक्ष ही देखनेमें आता है कि चेतन कुलालके विना जड़ मृतिका स्वयं घट नहीं बन जाती है।

यदि यह कहा जाय कि उन परमाणुओंका ऐसा स्वभाव ही है, तो हम पूछते हैं कि उनका स्वाभाविक गुण संयोग होना है या विभाग होना अथवा संयोग-विभाग दोनों है? स्वाभाविक गुण तो कभी मिट नहीं सकता ; जैसे अग्निकी उष्णता। यदि परमाणुओंका स्वाभाविक गुण (धर्म) संयोग है, तो विभागके अभावसे जगतका लय नहीं होना चाहिये। यदि उनका स्वाभा-विक गुण (धर्म) विभाग है, तो संयोगके अभावसे सृष्टि नहीं होनी चाहिये। परस्पर विरुद्ध धर्मवाले होनेसे संयोग और विभाग एक जगह रह नहीं सकते। इस प्रकार अनेक दूषणोंके उपस्थित होनेसे जगतका कारण परमाणु नहीं हो सकते।

जब कि प्रकृति और परमाणुओंमें जगतकी कारणता सिद्ध नहीं हुई, तो काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूतादिकोंमें जगत की कारणता कैसे सिद्ध हो सकती है ? जो पदार्थ जड़ होते हैं, वे अवश्य रूपवान तथा कार्य होते हैं। रूपवानका नाश अवश्य है तथा कार्यका कारण भी अवश्य है। इस नियमसे ये कालादि रूपवान होनेसे मिथ्या हैं तथा कार्य होनेसे स्वतन्त्र नहीं हैं। मिथ्या एवं परतंत्र होनेसे जगतके कारण नहीं हो सकते तथा इन कार्योंके अवश्य कारण होने चाहिये और उन कारणोंके दूसरे कारण होने चाहिये तथा उनके भी कारण होने चाहिये। इस प्रकार अनवस्थादोषकी प्राप्ति हो जायगी ; क्योंकि रूपवानका कारण रूपवान अवश्य होगा।

वेदान्त-सिद्धान्तसे तो जिस प्रकार रज्जुमें सर्प,दरार, माला, जलधारा इत्यादिके न होनेपर भी भ्रांतिसे प्रतीत होता है वास्तवमें एक रज्जु ही रहता है। उसी प्रकार एक ही अद्वितीय ब्रह्म में नानात्व जगत वास्तवमें नहीं है; किन्तु भ्रान्तिसे ऐसा प्रतीत होता है। किसको भ्रान्ति होती है ? माया जो है भ्रान्ति, उस भ्रान्तिको ही भ्रान्ति होती है। जगतकी प्रतीति ही जगतकी उत्पत्ति है और अपने आत्मस्वरूपी ब्रह्मके अपरोक्ष ज्ञान द्वारा जगतकी अप्रतीति ही जगतका लय है।

चार्वाकके सम्प्रदायवाले जो नास्तिक हैं, उनका कथन है कि इस जगतका कर्ता कोई नहीं है; किन्तु यह स्वयं—आप-ही-आप हुआ है। किसीका कथन है कि यह सृष्टि असत्‌से हुई है और

कोई कहते हैं कि जगतका कारण अत्यन्ताभाव है तथा कोई प्रध्वंसाभाव हीको कारण कहते हैं।

पूर्वोक्त सभी ईश्वरको न माननेवाले नास्तिक हैं, इनका उत्तर क्रमशः संक्षेपसे दिया जाता है। जो यह जगत स्वयं बन जाता है, तो मृतिका स्वयं घट क्यों नहीं बन जाती है? वढ़ई, मजदूर इत्यादिके बिना मकान स्वयं क्यों नहीं बन जाता है? सर्वत्र सब पदार्थ क्यों नहीं हो जाते हैं? पृथ्वीकी स्थिरता, ऋतुओंका परिवर्तन, सूर्यादि ग्रहोंके नियमित समयपर उदय होना, अन्न, औषधि, वनस्पति, वृक्षादिकोंमें नियमित समयपर फूल-फल लगना तथा सृष्टि-प्रलयका होना इत्यादि नियमोंको देखकर किसी नियामक (कर्ता) का अनुमान अवश्य होता है। प्राणियोंके शरीर, स्वरूप, व्यवहार एवं सुख-दुःख एकसे क्यों नहीं होते? अनन्त ब्रह्माण्डोंके प्राणियोंके कर्मोंका ज्ञान, उनको कर्मानुसार नीच-ऊँच योनियोंमें जन्म एवं दुःख-सुखकी प्राप्ति कराना इत्यादि ब्रह्माण्डोंका धारण-पोषण भला एक सर्वज्ञ ईश्वरके बिना कौन कर सकता है?

अब असतवादी तथा अत्यन्ताभाववालेका उत्तर दिया जाता है। असत् नाम तो अत्यन्त अभावका है। भला कहीं अभावसे भाव पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है? श्रीकृष्ण भगवान गीतामें कहते हैं, "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" असत्यका अस्तित्व नहीं हो सकता और अभावका सत्यपना नहीं हो सकता है। अभाव तो सब पदार्थोंका सर्वत्र होता है,

तो सर्वत्र सव पदार्थ क्यों नहीं हो जाते ? शशाश्रृङ्ग एवं वन्ध्या-पुत्रका तो अत्यन्त अभाव माना जाता है, तो उस अभावसे शशाश्रृङ्ग तथा वन्ध्या-पुत्र उत्पन्न क्यों नहीं हो जाते ? इसलिये असत् एवं अत्यन्ताभावसे कोई भी पदार्थ नहीं उत्पन्न हो सकता है; इन्हें जगतका कारण कहना अत्यन्त शास्त्र-विरुद्ध है।

प्रध्वंसाभाव वाले यह युक्ति दिखाते हैं कि जैसे आम, उड़द इत्यादिके बीजोंके नष्ट होनेपर अंकुर निकल आते हैं, वैसे ही हरेक पदार्थकी उत्पत्ति प्रध्वंसाभाव हीसे समझनी चाहिये। तो हम पूछते हैं कि प्राणियोंके भक्षण किये पेटमें गये हुए फलों के बीज भी तो जठराग्नि द्वारा नष्ट हो जाते हैं, तो वहां अंकुर फूटकर वृक्ष क्यों नहीं तैयार हो जाते हैं ? बहुतसे बीज शीत, धूप अथवा किसी पदार्थके आघातसे नष्ट हो जाते हैं, तो वहां अंकुर क्यों नहीं निकल आते ? नष्ट हुए घटसे पुनः घट क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता ? अतः प्रध्वंसाभावसे किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति न होनेसे जगतका कारण नहीं हो सकता। अंकुरके निकलनेपर भी बीजकी सत्ता अवश्य रहती है और उस सत्ताको विकाश देनेवाले सत्ताका भी सत्ता एक चेतन परमेश्वर है। इसी प्रकार प्रागभाव, अन्योन्याभाव, सामायिकाभाव इत्यादि सभी पक्ष युक्तिहीन, प्रमाण-रहित एवं असैद्धान्तिक हैं।

बहुतसे नास्तिक शब्द-प्रमाण वेदको नहीं मानते हैं। उनसे यह पूछना चाहिये कि जब कोई फल पृथ्वीपर गिरता है और शब्द होता है तब उस शब्दके श्रवणमात्रसे फल उठानेके लिये

[क्यों दौड़ते हो ? तुम तो शब्द प्रमाण नहीं मानते ? अपनी निन्दा सुनकर दुखी तथा स्तुति सुनकर प्रसन्न क्यों होते हो ? क्या ये शब्द नहीं हैं ? केवल शब्दके श्रवणमात्रसे यह कैसे समझ जाते हो कि यह अमुक व्यक्ति भाषण कर रहा है। कहींसे पत्र या तारका आना, वही-खातेका व्यवहार इत्यादि शब्द ही तो हैं, इनपर तुम्हारा विश्वास क्यों होता है ? क्या इन प्राकृतिक शब्दों से अप्राकृतिक वेद झूठे हैं ? वाह ! जो प्राणीकृत व्यावहारिक शब्द हैं, वे तो सत्य हैं और जो ईश्वर-कृत वेद (शब्द) हैं, वे मिथ्या हो गये ! धन्यवाद है बुद्धिको !

जो तुम्हारे पूर्वज ऋषि श्रद्धापूर्वक वेदानुसार आच-रण द्वारा आरोग्यता, दीर्घ जीवन, भोग, मोक्ष इत्यादि लौकिक तथा पारलौकिक विषयोंको प्राप्त करके उन्नतिके शिखरपर पहुंचे थे, उन्हींकी सन्तान होकर आज तुम बल, बुद्धि, विद्या, धन इत्यादिसे रहित होकर महान कष्टका अनुभव कर रहे हो। इसका कारण वेदोंके वाक्योंमें विश्वासका न करना एवं ऋषियों के वचनोंमें श्रद्धा न रखना रूपी नास्तिकपनाके सिवा क्या हो सकता है ? अतः हे भाइयो ! अब भी अपनी खोटी बुद्धिको परि-त्याग करके लोक तथा परलोक सुधारो।

जिससे वक्ताके अभिप्रायको पहिचाना जाय, उसे लक्षण कहते हैं; वह लक्षण तीन स्थानोंमें होता है। पहला, सामान धर्मवाला होनेसे; जैसे—'यह पुरुष तो सिंह है' अर्थात् सिंहके सदृश है। दूसरा, समीप होनेसे; जैसे—'गङ्गामें घोष है' आशय

यह कि गङ्गाके किनारे (समीप) घोष—अहीरोंका ग्राम—है। तीसरा, सम्बन्ध होनेसे; जैसे—'यह दण्डी है' यहां दण्डके सम्बन्धसे संन्यासीको दण्डी कहा गया।

गुण तीन प्रकारके होते हैं—स्वाभाविक; नैमित्तिक और औपाधिक। स्वाभाविक गुण कारणसे कार्यमें आ जाते हैं; जैसे—आकाशमें शब्द गुण होनेसे उसके कार्य वायुमें भी शब्द पाया जाता है। नैमित्तिक गुण या तो संयोगसे उत्पन्न होते हैं या किसी दूसरे सूक्ष्म पदार्थसे स्थूल पदार्थमें आ जाते हैं; जैसे—स्वाभाविक शीतल जल, सूक्ष्म अग्निके प्रवेश कर जानेसे उष्ण हो जाता है और पुष्पके संयोगसे वायुमें गंध-गुण आ जाता है। जो रक्त पुष्पपर रखे हुए स्फटिक पत्थरमें रक्त गुण आ जाता है, उसे औपाधिक गुण कहते हैं।

'चोरोऽयं स्थाणुः' यह चोर स्थाणु (ठूंठ वृक्ष) है, 'सर्पोऽयं रज्जुः' यह सर्प रज्जु (रस्सी) है इत्यादि। इसको "बाध-समानाधिकरण्य" कहते हैं; क्योंकि चोर तथा सर्पको बाध करके स्थाणु तथा रस्सीका ज्ञान होता है।

अयं सर्पः, इदं रजतः, इत्यादि यह सर्प है, यह रजत है, इत्यादि—इसको "अध्याससमानाधिकरण्य कहते हैं; क्योंकि यहां रस्सीमें सर्पका तथा सीपीमें रजत (चांदी) का अध्यास (भ्रम) है।

नीलोघट, यह नीलघट है—इसे "समानाधिकरण्य" कहते हैं; क्योंकि यहां नीलता घटका विशेषण है।

सोऽयं देवदत्तः, यह वही देवदत्त है। यह "ऐक्य समानाधिकरण्य" है; क्योंकि यहां वर्त्तमान देवदत्तकी पूर्व देखे हुए देवदत्तसे एकता है।

गंगा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा।
पापं तापं च दैन्यं च हरेत् साधुसमागमः॥

गंगा पापको, चन्द्रमा तापको, और कल्पवृक्ष दीनता (दरिद्रता) को नष्ट करता है; परन्तु सन्तोंका समागम तो पाप, ताप और दरिद्रता—इन सबका नाश कर देता है।

आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिंतया।
दद्यान्नावसरं किञ्चित् कामादीनां मनागपि॥

जागकर सोने पर्यन्त तथा यज्ञोपवीत-संस्कारके हो जानेपर मरण-पर्यन्त वेदान्त-चिंतनसे गत करे; मनमें कामादि विकारों को किंचित्मात्र भी अवसर न दे।

अभिमानं सुरापानं गौरवम् घोर रौरवम्।
प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा त्रीणित्यक्त्वा सुखी भवेत्॥

अभिमान, गौरव और प्रतिष्ठा—इन तीनोंको क्रमशः मदिरापान, घोर रौरव (नर्क) और शूकरी – विष्ठाके तुल्य त्यागकर सुखी होय।

अभेद दर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः।
स्नानं मनोमलः त्यागं शौचमिन्द्रियनिग्रहः॥

जीवात्मा परमात्मा व जगतका परस्पर अभेद देखना ही ज्ञान है; मनका विषय-वासनासे रहित होना ही ध्यान है; मनका

का मल जो है तीन एषणा,—सुत, धन, लोककी इच्छा—उसको त्याग देना ही स्नान है और इन्द्रियोंको प्रत्येक विषयसे हटाकर अन्तर्मुख करना ही शुद्धता है।

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनिः।
यत्र यत्र मनो याति तत्र यत्र समाधयः॥

देहाभिमानके नष्ट हो जानेपर और परमात्माको जान लेनेपर जहां-जहां मन जाता है; वहां-वहां-ही समाधियां हैं।

प्राणा श्रद्धा खादि भूत पंचकं चेन्द्रियं मनः।
अन्नं वीर्यं तपो मंत्राः कर्म लोकाश्चेताः कलाः॥

यह पुरुष सोलह कलावाला है;—पञ्च प्राण, १ श्रद्धा, २ आकाश, ३ वायु, ४ अग्नि, ५ जल, ६ पृथ्वी, ७ इन्द्रियां, ८ मन, ९ अन्न, १० वीर्य, ११ तप, १२ मंत्र, १३ कर्म, १४ लोक, १५ और (आत्मा १६)।

प्रारब्धं भोगतो नश्येत् शेषं ज्ञानं न दह्यते।
शारीरं त्वितरत्कर्म तद्द्वेपि प्रियवादिनो॥

ज्ञानीका प्रारब्ध-कर्म भोगनेसे नष्ट होता है, शेष जो संचित है, वह ब्रह्मके अभेद ज्ञानसे नष्ट होता है और अन्य जो शारीरिक कर्म—क्रियमाण है, वह उससे द्वेषी और प्रिय वचन बोलनेवाले (सेवक) ले लेते हैं; अर्थात् जो उस ज्ञानी पुरुषसे द्वेष करके कटुवचन, ताड़नादि व्यवहार करता है, वह तो क्रियमाण पापको, और जो श्रद्धापूर्वक प्रियवचन, सेवा आदि करता है वह क्रियमाण पुण्यको ले लेता है।

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते ।
स तस्मै दुस्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥

जिसका अतिथि निराश होकर उसके घरसे लौट जाता हैं, तो वह अतिथि उस गृह-वासीको अपनी दुष्कृति (पाप) को दे करके तथा उसके पुण्य (सुकृति) को लेकर चल देता है।

अहं ममत्येयं वन्धो नाहं ममेतिमुक्तता ।

मैं अर्थात् मोटा हूं, पतला हूं, श्याम हूं, गौर हूं, वर्णवाला हूं, आश्रमी हूं, क्षुधित हूं, प्यासा हूं, दुःखी हूं, सुखी हूं, देखता हूं, सुनता हूं, वोलता हूं, चलता हूं इत्यादि। मेरा अर्थात् मेरा शरीर है, मेरे प्राण हैं, मेरा मन है, मेरी इन्द्रियां हैं, मेरी स्त्री है, मेरा पुत्र है, मेरा धन है, मेरा घर है, इत्यादि, यही वन्धन है। और न मैं शरीर हूं, न प्राण हूं, न मन हूं, न इन्द्रिय हूं, न वर्णी हूं, न आश्रमी हूं. इत्यादि मैं पनका त्याग। तथा यह मेरा शरीर है, ये मेरे प्राण हैं, यह मेरा मन है, ये मेरी इन्द्रियां हैं, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा धन है, इत्यादि मेरापन का त्याग मोक्ष है।

घट द्रष्टा घटाद्भिन्नः सर्वथा न घटो यथा ।
देह द्रष्टा तथा देहो नाहमित्येवधारयेत् ॥

जैसे घटको देखनेवाला, घटसे भिन्न ही होता है, वह घट कभी नहीं हो सकता। वैसे ही देहको देखने-जानने-वाला मैं देह नहीं हूं; ऐसी धारणा करे।

अनन्तवत्तु मे वित्तं यन्मे नास्ति हि किञ्चन।
मिथिलायां प्रदग्धायां नमे दह्यति किंचन॥

मिथिलापुरीमें आग लग गयी है और जनकजी कह रहे हैं— मेरा आत्म-धन जो अनन्त है, वह किंचिन्मात्र भी नष्ट नहीं हो सकता; अतः मिथिलापुरीके जल जानेमें मेरा कुछ भी नहीं जलता है।

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभिः।
सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापरः॥

जो करोड़ों ग्रन्थोंसे कहा गया है,उसे आधे श्लोकसे कहता हूं, ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है; जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं है।

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्रकृतैर्गुणैः।
तैरेवस्तु विनिर्मुक्तः परमात्मात्युदाहृतः॥

जबतक आत्मा प्रकृतिके गुणोंसे संयुक्त रहता है अर्थात् प्रकृतिके गुणोंके किये हुए कार्योंका कर्त्ता स्वयं बनता है, तभी-तक क्षेत्रज्ञ, (जीवात्मा) ऐसा कहा जाता है। और जब उन गुणोंसे मुक्त हो जाता है,—छूट जाता है—अर्थात् अपनेको निर्गुण, निष्क्रिय मानने लगता है, तब परमात्माही कहा जाता है।

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी विचार्य च पुनः पुनः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः॥

बुद्धिमान् पुरुष, ग्रन्थका अभ्यास-पठन या श्रवण करे। फिर बार-बार विचार (मनन) करके सम्पूर्ण ग्रन्थोंका त्याग कर दे,

जैसे—धानको चाहनेवाला पुआलको त्याग देता है अथवा जैसे—तण्डूलको चाहनेवाला (छिल्के) को देता है।

आत्मनं चेद्विजानीयात् सर्व भूत गुहाशयम्।
श्लोकेन यदि वार्द्धेन क्षीणं तस्य प्रयोजनम्॥

यदि एक श्लोकसे अथवा आधे श्लोकसे भी सम्पूर्ण प्राणियोंमें छिपे हुए आत्माको—अपनेको—जान गया, तो उसका प्रयोजन नष्ट हो गया; अर्थात् शास्त्र तथा शास्त्र सम्बन्धी कर्म-उपासनासे एवं किसी भी प्राणीसे कुछ अपना मतलब नहीं रह गया।

कार्योपाधिरयं जीवो कारणोपाधिरीश्वरः।

एक ही चेतन कार्य—बुद्धि, अन्तःकरण, पंच कोश या अविद्या—उपाधिसे जीव, और कारण—माया या अव्याकृत—उपाधिसे ईश्वर है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयंत्यजेत्॥

गीतामें भगवान कहते हैं—काम, क्रोध और लोभ—यह तीन प्रकारका नरकका दरवाजा आत्मा (जीव) का नाश करनेवाला है; अर्थात् अपने सच्चिदानन्द स्वरूपमें वंचित करके जन्म-मरण-रूपी चक्करमें डालनेवाला है। इसलिये यह तीन—काम काम, क्रोध और लोभ त्याग दे। अब प्रश्न होता है कि कैसे त्यागे ? इसका उत्तर ऋषियोंने आदि दकार वाले तीन शब्दोंसे दिया है—दम, दया और दान। जिस प्रकार शीशी, बोतल या

'किसी भी पात्रमें जलके रखनेसे, उसमेंका पवन स्वतः निकल जाता है, उसी प्रकार दम—इन्द्रियोंके दमन अर्थात् कुमार्गसे रोकनेसे काम अन्तःकरणसे निकल जाता है, दया—मन, वाणी और शरीरसे किसी भी प्राणीको कष्ट न देता हुआ विपत्तिमें करु-णाचित्तसे यथा-शक्ति सहायता करनेसे क्रोध भाग जाता है और दान—देश काल और पात्रका विचार करके यथाशक्ति धन खर्च करनेसे लोभका पता नहीं लगता कि कहां चला गया। पूर्वोक्त रीतिसे कामके त्यागसे ब्रह्मचर्यता, आरोग्यता, बल, इत्यादि, क्रोधके त्यागसे अहिंसा, क्षमा, शान्ति, इत्यादि; और लोभके त्यागसे संतोष, अन्तःकरणकी स्थिरता, अस्तेय (चोरी न करना) इत्यादि गुण आकर सहजहीमें निवास करते हैं; जिससे मनुष्य भुक्ति तथा मुक्ति—दोनोंका अधिकारी हो जाता है।

* इति शास्त्र वचन *

प्रारब्ध और पुरुषार्थ

कुछ लोगोंका कथन है कि प्रारब्ध स्वतन्त्र है ; यह किसीके भी टालनेसे नहीं टल सकती अर्थात् सर्वथा अनिवार्य है। पूर्व जन्ममें जो कुछ पुण्य या पाप किये रहते हैं, उन्हींके अनुसार परजन्ममें सुख-दुःखकी प्राप्ति एवं भले-बुरे कर्मोंमें प्रवृत्ति हुआ करती है। पूर्वजन्ममें जिसने विशेष बुरे कर्म किये हैं, उसकी प्रकृति बुरी होकर बुरे ही कर्मोंको करायेगी और

जिसने अच्छे कर्म किये हैं, उसको प्रकृति (स्वभाव) अच्छी होकर अच्छे कर्मोंको करायेगी। प्रारब्ध-जनित सुख-दुःखको कोई पुरुषार्थ द्वारा टाल नहीं सकता ; जैसे—सुदामाको दरिद्रता, हरिश्चन्द्रका चांडालके यहां विक्रय होना तथा मर्घट (श्मशान) पर कर लेना; राम, नल, युधिष्ठिरादिका वनवास, इत्यादि कथाएं प्रचलित हैं। यह भी देखा जाता है कि सब छात्र एक ही साथ पढ़ते हैं, तथा एक ही अध्यापकसे पढ़ाये जाते हैं ; उनमेंसे कितने छात्र तो स्वल्प ही परिश्रमसे परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाते हैं और कितने अधिक परिश्रम करनेपर भी उत्तीर्ण नहीं होते। दो किसानोंके खेत एक ही जगह हैं और वे किसान जोतने-बोनेमें तुल्य परिश्रम भी करते हैं तथापि उन क्षेत्रोंमें अन्नकी उपज न्यूनाधिक हो जाया करती है। इससे प्रारब्ध ही सिद्ध होता है।

अखिल विश्वके प्राणी एक ही परमेश्वरके पुत्र हैं और उन परमपिताकी कृपा-दृष्टि सबपर बराबर होती है; क्योंकि वे दयालु तथा न्यायकारी हैं। तोभी ये प्राणी उत्तम-मध्यम निकृष्ट जाति-वर्णवाले तथा न्यूनाधिक ऐश्वर्यवाले और न्यूनाधिक सुखी-दुःखी देखे जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि समदर्शी होते हुए भी परमेश्वर प्रारब्धके अनुसार ही प्राणियोंके प्रति विषम-व्यवहार करता है। मनुष्य सोचता है और, हो जाता है और ही ; और जिसकी चाह नहीं रहती, वह पदार्थ या विषय उपस्थित हो जाता है। इससे भी प्रारब्ध ही सिद्ध होता है। अतः हे भाइयो! प्रारब्धमें किसीका चारा नहीं है।

बहुतसे लोग पुरुपार्थको ही प्रधान मानते हैं ; उनका कथन है कि प्रारब्ध कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, किन्तु पूर्वजन्मके किये हुए जो अपने कर्म हैं, वेही प्रारब्ध होकर सुख-दुःख दिया करते हैं। पुरुपार्थ-द्वारा प्रारब्ध भी मिटाया जा सकता है। इस जगतमें पुरुपार्थके विना कोई भी कार्य नहीं हो सकता, पुरुसार्थहीके द्वारा सिंह, गज-मस्तक-विदार कर गज-मुक्ता खाता है, पुरुपार्थ द्वारा शूर-वीर समरमें शत्रुको जीतते हैं; पुरुपार्थ ही करके छात्र परीक्षामें उत्तीर्ण होते हैं; पुरुपार्थ रूप तप करके ही ध्रुवने पिताका राज्य पाया था ; पुरुपार्थ करके ही भगीरथने सुरसरिको लाया था ; पुरुपार्थ द्वारा ही श्रीरामचन्द्रने बन्दर-भालुओंके सहित समुद्रमें सेतु (पुल) बांधकर लंकामें जाकर रावण-दल संहारा था और क्षत्रियकुलमें जन्मा हुआ विश्वामित्र पुरुपार्थ हो करके ब्रह्मर्पि कहलाया था। कहांतक कहा जाय, संसारमें जितने कार्य हुए हैं तथा होते हैं, वे पुरुपार्थके ही द्वारा होते हैं। पुरुपार्थ द्वारा पुरुप ब्रह्मा, विष्णु तथा साक्षात् शंकर हो सकता है। विना पुरुपार्थके कोई एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता ; मुखमें डाले विना एक ग्रास भी स्वयं नहीं आ सकता तथा विना तोड़े ही वृक्ष स्वयं पत्र-पुष्प नहीं दे जाते। इससे यह सिद्ध होता है कि जगतमें जो कुछ है, वह पुरुपार्थ ही है। इस संसारमें जितने आलसी, निकम्मे एवं भीरु प्राणी हैं, वे ही प्रारब्धकी माला फेरा करते हैं। यदि उनका प्रारब्ध बलवान है, तो वे आगमें कूद पड़ें या विप-प्याला पी जायँ।

देखें तो उनकी प्रारब्ध उन्हें बचा लेती है ? कदापि नहीं,वे विना जले-मरे नहीं रहेंगे । अतः हे भाइयो ! प्रारब्धके भरोसे निठल्ले बैठे-बैठे जीवन नष्ट मत करो ; यह देव-दुर्लभ मनुष्य-शरीर बार-बार नहीं मिलेगा। इस कर्म-क्षेत्र भरतखण्डमें जन्म लेकर पुरुषार्थ-द्वारा अपना लोक तथा परलोक सुधारो।

प्रिय वाचकवृन्द ! पूर्वोक्त प्रकारसे प्रारब्ध तथा पुरुषार्थके विषयमें शास्त्रोंमें बहुत-से विवाद हो चुके हैं एवं पण्डित और विद्वानोंने भी बहुत-सी तर्कनाएं की हैं। परन्तु इस जटिल-समस्याको कोई भी आजतक निश्चय रूपसे हल नहीं कर पाये। किसीने प्रारब्धको ही प्रधान माना,तो किसीने पुरुषार्थको ही निश्चय किया। जब कि बड़े-बड़े विद्वान् भी किसी एकको निश्चय न कर सके, तो मुझ सरीखा अल्पज्ञ क्या कह सकता है? तथापि सच्छास्त्र-अवलोकन तथा संत-समागम-द्वारा मुझे जो कुछ इस विषयमें ज्ञात है, सो लिखता हूं। प्रारब्ध और पुरुषार्थ, इन दोनोंका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है, तो दारमदार किसी एकको ही स्वतन्त्र मान लेना ठीक नहीं है ; क्योंकि शास्त्र, सत्यवादी ऋषियोंसे वेदानुकूल रचे गये हैं। अतः मेरी समझसे पूर्व जन्मोंके शुभाशुभ कर्मानुसार ही सुख-दुःख रूपी प्रारब्ध-भोग, और स्वभाव (प्रकृति), ये दो कार्य होते हैं। इनमेंसे पहला जो सुख-दुःख रूपी प्रारब्ध-भोग है, वह तो भोगना ही पड़ता है; विना भोगे करोड़ों उपायोंसे भी नष्ट नहीं हो सकता। और दूसरा कार्य जो (भली-बुरी प्रकृति) है, वह पुरुषार्थ-द्वारा

नष्ट हो सकता है। प्रश्न—क्या पुरुषार्थ-द्वारा प्रारब्ध-भोग नहीं मिट सकता? उत्तर—नहीं, वह तो भोगने हीसे नष्ट होता है। प्रश्न—यदि उसके लिये घोर प्रयत्न किया जाय? उत्तर—प्रारब्ध-भोग टालनेके लिये महत् पुरुषार्थ करनेसे इतना हो सकता है कि कुछ कालके लिये रुक जायगा। परन्तु समय पाकर वह प्रारब्ध-भोग फिर उदय हो जायगा और उसे भोगना पड़ेगा। प्रश्न—यदि विष-पान या शस्त्र-प्रहार-द्वारा शरीर नष्ट कर दिया जाय, तो कैसे भोगना पड़ेगा? ऐसा करनेसे आत्म-घात रूपी एक नया कुकर्म (पाप) हो जायगा, तब इस नवीन पापको, और जिस प्रारब्ध-भोगको नष्ट करनेके लिये स्थूल शरीरका नाश किया है, उसको—इन दोनोंको भोगनेके लिये फिर शरीर धारण करना पड़ेगा। जिस प्रकार धनुषसे छूटा हुआ बाण, वेगके पूरा हुए बिना, बीचमें रुक नहीं सकता है, वैसे ही बिना अपना फल दिये प्रारब्ध-भोग नष्ट नहीं हो सकता है। प्रश्न—क्या इस विषयमें ईश्वर भी असमर्थ हैं? उत्तर—नहीं, वह तो सर्वशक्तिमान् हैं; सब कुछ कर सकता है; परन्तु वह शास्त्र-मर्यादा मिटाना नहीं चाहता। जैसे नृपति, कैदियोंको अवधि-समाप्तिके बिना बन्धनसे मुक्त नहीं करता है, तो क्या यह माना जायगा कि वह छोड़ देनेमें असमर्थ है? नहीं, नहीं, वह सम्राट् है,उसका अधिकार सब कुछ करनेको है;परन्तु अपने कानून-भंगकी रक्षाके लिये नहीं छोड़ता, तथापि किसी खुशहाली समयके आ जाने पर बहुतसे कैदियोंको छोड़ भी देता

है; वह अति हर्षके अवसरपर आनन्दमें ऐसा निमग्न हो जाता है कि अपना कानून (नियम) स्मरण ही नहीं रहता। तो क्या ऐसे समयपर छोड़ देनेसे ऐसा कानून हो सकता है कि कैदी अपनी सजाके भोगे विनाही छूट जाते हैं या छोड़ दिये जायँ ? कदापि नहीं। वैसेही परमेश्वर भी कहीं-कहीं अपने भक्तोंपर अत्यन्त प्रसन्न होकर प्रेममें ऐसे विभोर हो जाते हैं कि अपने इस नियमको कि "विना भोगे प्रारब्ध नहीं मिट सकती" भूल जाते हैं; यह कहावत भी प्रचलित है—जहां प्रेम तहं नेम नहिं, जहां नेम, नहिं प्रेम। जितने कर्म हैं, वे प्रकृति (माया) के गुणोंसे ही हुआ करते हैं; और भगवान मायापति कहे जाते हैं। इस रीतिसे स्वामीकी आज्ञा दास-दासीपर सर्वदा रहती है; इसलिये भगवान, माया-जनित-गुण-कर्मोंको मिटानेमें सदा-सर्वदा समर्थ हैं। कहीं-कहीं इतिहास-पुराणोंसे भी पता लगता है, जैसे—सावित्रीका अपने पातिव्रत-धर्मसे भगवानको प्रसन्न करके, अपने गतायु सत्यवान पतिको यमराजके पाशसे मुक्त कर लेना; इत्यादि।

इससे यह मानना सर्वथा अनुचित होगा कि प्रारब्ध मिट सकता है ; क्योंकि पूर्व सतयुगके समयमें भी ईश्वरकी अनुग्रहतासे प्रारब्धका मिट जाना विरले ही स्थानोंमें पाया जाता है। आजकलके कलियुगी पामर प्राणियोंसे तो, जो कि विषयके कीड़े हो रहे हैं;ईश्वर तथा शास्त्रमें विश्वास करनेको भी हिचकते हैं; ईश्वरको प्रसन्न करके प्रारब्ध मिटाना असम्भव ही है। श्रुति-

में जहांपर ज्ञानीके लिए प्रारब्धका निषेध किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि वे ज्ञानी पुरुष इस संसार तथा शरीरको मिथ्या समझते हैं। अतएव शरीरके प्रारब्धको भी मिथ्या समझते हैं। प्रारब्ध-भोगको अन्तःकरणके भोगते हुए भी अपने आत्म-स्वरूपमें सर्वथा अभाव देखते हैं। इसलिये प्रारब्धका निषेध किया गया है; नकि अपना प्रारब्ध अन्तःकरण भोगता ही नहीं।

पूर्वोक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो चुका कि प्रारब्ध-भोग भोगनेहीसे नष्ट होता है। अब रह गया पूर्वजन्मके कर्मानुसार स्वभाव। उसका तो पुरुषार्थ-द्वारा नष्ट होना माननाही पड़ेगा; ऐसा नहीं माननेसे जो शास्त्र मोक्षके कथन करनेवाले हैं; वे निष्फल हो जायेंगे। क्योंकि पूर्वजन्ममें जो बुरा कर्म किया रहेगा, उसका परजन्ममें स्वभाव बुराही होगा; और फिर वह उस बुरे स्वभावसे बुराही कर्म करेगा; उस कर्मके अनुसार फिर अगले जन्ममें बुरी प्रकृति हो जायगी; उस बुरी प्रकृति-द्वारा फिर बुरा कर्म करेगा। इस तरह वह बार-बार जन्म-मरण रूपी चक्करमें पड़ताही रहेगा; छुटकारा कभी नहीं पायेगा। इसलिए यह बाध्य होकर मानना पड़ता है कि पुरुषार्थ-द्वारा प्रकृतिको पलट देनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है। यह देखनेमें भी आता है कि बहुत सुखी, भली प्रकृतिवाला तथा सदाचारी पुरुष भी दुष्टोंके साथमें पड़कर दुराचार करते-करते बुरी प्रकृतिवाला तथा दुराचारी हो जाता है; वह दुराचारी होता हुआ भी सुखी रहता है। तब दुनियां कहती है कि यह बुरी प्रकृति एवं दुराचारी होता

हुआ भी किसी पुण्य—प्रभावसे सुखी है। इसी प्रकार यह भी देखा जाता है कि जो पहले दुखी, बुरा स्वभाव वाला तथा दुराचारी रहता है, वह सदाचारी पुरुषोंके साथमें पड़कर शुभ कर्म करते-करते अच्छी प्रकृतिवाला तथा सदाचारी हो जाता हैं, परन्तु प्रारब्ध-भोग वहां भी पिण्ड नहीं छोड़ता। बेचारा उत्तम स्वभाववाला एवं सदाचारी होते हुए भी किसी-न-किसी कारणसे दुःखी रहता है। तब दुनियां कहती है न जाने इसने पूर्व जन्ममें कौनसा पाप किया कि सदाचारी होता हुआ भी दुःखी रहता है।

पाठको! इससे यह सिद्ध हो गया कि जहां शास्त्रोंमें पुरु-पार्थकी प्रधानता दी गयी है, वहां प्रकृति (स्वभाव) को बिगाड़ने तथा बनानेमें समझनी चाहिये। अब यह प्रश्न होता है कि क्या पूर्वजन्मोंके ही किये हुये कर्मोंके फल मिलते हैं, इस जन्मके किये हुए कर्मोंके फल हम इस जन्ममें नहीं पा सकते हैं? अवश्य पा सकते हैं; यह पुरुषार्थ पर निर्भर है। यदि किसी पदार्थके लिये अत्यन्त दृढ़ पुरुषार्थ किया जाय, तो उसका फल शीघ्रही मिलने लगता है। जैसे किसी घरमें कुछ-न-कुछ अन्न प्रति दिन रखा जाता है, इसी नियमानुसार कुछ अन्न आज भी रखा गया; फिर आजही पकाने-खानेके लिये, उसमेंसे कुछ अन्न निकाला गया, तो उसमेंसे पहले वही अन्न निकलेगा, जो आज रखा गया है। वैसेही धैर्य तथा उत्साहसे दृढ़ पुरुषार्थ द्वारा किये क्रियमाण कर्म हृदयमें स्थित हुए पूर्वके संचित कर्मोंको

दबाकर अपना फल देने लगते हैं। इसी आधारपर पुत्रेष्टि यज्ञ, ग्रह-शान्ति-कर्म, प्रायश्चित्त कर्म इत्यादि कर्म शास्त्रोंमें वर्णित हैं; जोकि इसी जन्ममें पुत्रकी प्राप्ति, ग्रहकी शांति तथा पाप-निवृत्तिके हेतु हो जाते हैं। हां, यदि पुरुषार्थसे अत्यन्त विपरीत प्रारब्ध उपस्थित हो जाय, तो कुछ समयके लिये पुरुषार्थमें रुकावट अवश्य डाल सकता है; परन्तु एकबारगी (सर्वथा) नहीं।

पूर्वोक्त प्रकारसे यह भलीभांति सिद्ध हो गया कि मनुष्यके जीवनमें दो प्रकारके भोग आया करते हैं; एक तो प्रारब्धसे, और दूसरा पुरुषार्थसे। जैसे संयमके बिगाड़ देनेसे या कुपथ्य-सेवनसे प्रायः शरीरमें रोग उत्पन्न हो जाया करते हैं, वे प्रारब्धसे नहीं माने जायेंगे; किन्तु पुरुषार्थसे; और उनकी निवृत्ति शीघ्र ही औषधादिसे हो जायगी। और जो रोग प्रारब्ध-जनित होंगे, वे संयम करते हुए भी असावधानी हो जायगी और कुपथ्य-सेवन हो जायगा, बस, झट उत्पन्न हो जायेंगे। और बिना पूर्ण रीतिसे अपना भोग दिये नष्ट नहीं होंगे; किन्तु अपना पूर्ण भोग देकर ही नष्ट होंगे, औषधि तो निमित्त-मात्र रहेगी। इसी प्रकार हर-एक विषयमें समझ लेना चाहिये। दुःखदायी समझते हुए भी जिस विषयमें अपनी आसक्तिसे तथा कुसंगसे नाना प्रकारके कुप्रयत्नमें हम प्रवृत्त होते हैं, उसे समझना चाहिये कि यह प्रारब्धकी प्रेरणा नहीं है, किन्तु अपना पुरुषार्थ है; इसका फल शीघ्र दुःख मिलेगा। इसीपर गोस्वामी तुलसीदासजीने रामायणमें कहा है. (चौपाई)—"जानि गरल जे

संग्रह करहीं। कहहु उमा ते कस नहिं मरहीं ॥" इसी प्रकार शुभ कर्मोंमें भी समझ लेना चाहिये। जो भोग बिना जाने हुए अनायास आ जाय, उसे जानना चाहिये कि प्रारब्धसे हुआ है, जैसे—मार्ग चलते हुए द्रव्यका मिल जाना अथवा किसी छतका टूटकर अपने ऊपर गिर जाना या अपने घरमें किसीका आग लगा देना या धनको चोरका चुरा ले जाना, इत्यादि। प्रयत्न करनेमें भी पूर्वजन्मोंके कर्म-फल और जन्मके पुरुषार्थ-फल, ये दोनों प्रकारके फल मिला करते हैं, परन्तु मनुष्य स्थूल बुद्धिसे सहसा पहचान नहीं सकता कि कौन फल प्रारब्धका है और कौन पुरुषार्थका। जिसपर ईश्वरकी कृपा होती है, ऐसा योगी पुरुष ही पहचान सकता है। श्रुति कहती है कि जिसको आत्मा और परमात्माका अभेद ज्ञान हो जाता है, वह प्रारब्ध तथा कुछ-कुछ इस जन्मके कर्म-फलको भी अन्तःकरणका भोग समझता हुआ स्वयं परमानन्दमें विचरा करता है; और जो अनेक जन्मोंके संचित शुभाशुभ कर्म हैं और जो इस जन्मके कर्म हैं—जो अभी अपना फल देनेके लिये तैयार नहीं हैं—उनको ज्ञानाग्निसे दग्ध कर डालता है अर्थात् उनका फिर प्रारब्ध नहीं बनता; अतः भोगने नहीं पड़ते हैं। वह ज्ञानी पुरुष शरीर छोड़कर फिर जन्म नहीं लेता है। शुभम्।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

* ॐ शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!! *

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥